ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

(ज्ञानाधिकार)

'लीला' व्याख्यायुता

व्याख्याकार :

डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (ज्ञानाधिकार)

('लीला' व्याख्यायुता)

(प्रथम अधिकार के पाँचवें आह्निक की सप्तम कारिका से लेकर आह्निक के अन्त तक)



व्याख्याकार :

डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री

एम.ए., पी-एच.डी., आचार्य



प्रकाशक :

डॉ. दयाशङ्कर शास्त्री, १ ३ ३ ३, रतनलाल नगर, कानपुर

प्रकाशक :

डॉ. दयाशङ्कर शास्त्री,

१३३३, रतनलाल नगर

कानपुर

संस्करण– प्रथम

वर्ष– २००१ ईसवी सन्

मूल्य– १०० रुपये

मुद्रक :

सौरभ प्रिंट सर्विसेज

आलमबाग, लखनऊ

परम पूज्य गुरुदेव (स्व०) डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय

एवं

परम श्रद्धेया 'माता जी' (स्व०) श्रीमती लीला पाण्डेय

की

स्मृति में

लेखक की यह कृति

दो शब्द

लगभग १० वर्ष हुए श्री रामकुमार शर्मा (अभिनवगुप्त इन्स्टीट्यूट, लखनऊ विश्वविद्यालय) ने मुझसे सविनय आग्रह किया कि विश्वविद्यालयीय छात्र एवं छात्राओं के हितार्थ शैवदर्शन की व्याख्या होनी चाहिए। बात पड़ी रही किन्तु मैं भूला नहीं उनके आग्रह को और वे भी कभी-कभी अपनी इच्छा प्रकट करते रहे। व्यस्तता रहने पर भी कुछ समय मिलने पर पुस्तक तैयार हो गई, प्रकाशित हो गई और अब पाठकों के हाथ में है। यह प्रसन्नता का विषय है।

व्याख्या लिखी गई इसलिए कि व्याख्या होनी चाहिए थी। क्या यहाँ भी हम लोग पश्चिममुखापेक्षित्व को स्वीकार करें ? कभी नहीं। हम स्वतंत्र हैं। दर्शन हमारा है, विचार हमारे हैं। हमारी मातृभूमि में उर्वर विचार उत्पन्न हुए हैं और है हमारे पूर्वजों का चिन्तन। हमें विश्व के सम्मुख ऐसे बहुमूल्य विचारों को रखना है जिससे समस्त मानवता का कल्याण सम्भव हो। किन्तु हमारे पीछे आ रही पीढ़ियाँ इसे समझे, हृदयङ्गम करें और समस्त विश्व में भारतीय उदात्त विचारों को फैला दें। यही लक्ष्य है इस व्याख्या का। इसके माध्यम से हम उन मनस्वी, परम त्यागी गुरुदेव (स्व०) डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय को भी अपनी श्रद्धाञ्जलि दे रहे हैं जिन्होंने अपने त्याग, तप एवं ज्ञान के द्वारा भारतीय श्रेष्ठ चिन्तन से विश्व को अवगत कराया तथा स्वर्गीया (श्रीमती) लीला पाण्डेय, (डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की धर्मपत्नी) जिन्हें हम सब 'माता जी' कहते रहे हैं को भी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहे हैं। 'माता जी' के नाम से व्याख्या का नाम 'लीला' रखा गया है।

सम्मति देने वाले माननीय प्रो० राममूर्ति जी शर्मा कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी एवं गुरुदेव डॉ० मातृदत्त जी त्रिवेदी का मैं विशेष आभारी हूँ। पं० श्रीश जी मिश्र को विशेष धन्यवाद जिन्होंने परमप्रीत्या प्रूफ देखने में सहायता की। जिनके संरक्षण में रहकर मैंने आद्योपान्त निश्चिन्त होकर विद्याध्ययन किया, जिन्होंने सत्संस्कार दिया उन महापुरुषकल्प अग्रज पं० भगवतीप्रसाद जी अवस्थी एवं पूज्या भाभी जी के प्रति साभार कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। उनके त्याग, तप एवं परिश्रम का फल मुझे प्राप्त हुआ है। उनके सान्निध्य से मुझे सुविधायें प्राप्त हुई हैं एवं उनके आशीर्वाद से यश मिल रहा है। इन विभूतियों को पुनः पुनः नमन।

आप सबका- समस्त विश्व का

दयाशङ्कर शास्त्री

दिनाङ्क - विजयादशमी वि.सं. २०५८
(२६-१०-२००१)

दयाशङ्कर शास्त्री

शुभाशंसन

दिनांक : ११-१०-२००१

महती सूक्ष्मेक्षिका से सम्पन्न डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री के द्वारा विरचित 'उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन, न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली (शब्दखण्ड) की प्रबोधिनी व्याख्या अर्थसंग्रह की अर्थबोधिनी व्याख्या तथा मीमांसान्यायप्रकाश की न्यायबोधिनी व्याख्या आदि के अनुशीलन से हमें उनके न्यायशास्त्र और मीमांसाशास्त्र विषयक अप्रतिम वैदुष्य का पता चलता है। अब हमारे सम्मुख उनकी एक अन्य कृति प्रकाश में आ रही है जो उनकी काश्मीरीय प्रत्यभिज्ञादर्शनविषयक वैदुषी की परिचायिका है। यह है महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य-विरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (ज्ञानाधिकार) की 'लीला' नाम्नी हिन्दीव्याख्या, जिसके द्वारा लेखक ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के वास्तविक मर्म को समझाने का श्लाघ्य प्रयास किया है और इसमें वह पूर्णरूप से सफल हुआ है। यह व्याख्या २७ पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका से संवलित है, जिसमें अभिनवगुप्त के जीवनवृत्त, कृतियों तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन के तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। डॉ० शास्त्री ने अपनी कृति को चार परिशेषिकाओं (परिशिष्टों)- ग्रन्थग्रन्थकाराद्यनुक्रमणिका, उद्धरणानुक्रमणिका, पारिभाषिकशब्दादिकोषानुक्रमणिका और उपयुक्त ग्रन्थसूची- से विभूषित किया है। इससे ग्रन्थ का महत्त्व और बढ़ गया है। हमें आशा है कि इसके पश्चात् लेखक की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के आगमाधिकार की व्याख्या भी शीघ्र ही प्रकाश में आयेगी।

मैं अन्त में विद्वान् लेखक की इस अभिनन्दनीया कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ लेखक के प्रति साधुवाद अर्पित करता है, जिसने प्रत्यभिज्ञादर्शन के जिज्ञासु जनों का महान् उपकार किया है। हमें विश्वास है कि लेखक की अन्य कृतियों की भाँति इस कृति का भी विद्वानों में समुचित समादर होगा।

मातृदत्त त्रिवेदी

डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी,
एम.ए., पी-एच.डी.
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
सेवानिवृत्त रीडर, संस्कृत विभाग
भूतपूर्व अवैतनिक अपरनिदेशक
अभिनवगुप्त शोधसंस्थान
लखनऊ विश्वविद्यालय

अभिमत

मैंने डॉ. दयाशंकर शास्त्री के द्वारा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के ज्ञानाधिकार (पञ्चम आह्निक की अन्तिम १५ कारिकाओं की विमर्शिनी) की 'लीला' नामक विशद हिन्दी व्याख्या देखी।

व्याख्या के पूर्व २७ पृष्ठों की भूमिका है जिसमें लगभग सभी अपेक्षित विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। व्याख्येय विमर्शिनी को २४ विभागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक विभाग का प्रसंग एवं विमर्शिनी (कारिकासहित) का अर्थ देकर 'लीला' व्याख्या के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक किया गया है। अन्त में ३ परिशेषिकायें (परिशिष्ट) तथा पुस्तकों की सूची भी सम्मिलित है। पुस्तक १७२ पृष्ठों में समाप्त होती है।

मैं समझता हूँ कि इस व्याख्या से छात्रों एवं जिज्ञासुओं का हित होगा। व्याख्या विस्तृत तथा उपयोगी है। एतदर्थ डा० शास्त्री को बधाई। मेरी कामना है कि वे ऐसे उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन करते रहें तथा यशोभागी बनते रहें।

२८-९-२००१

प्रो० राममूर्ति शर्मा

कुलपति- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

विषय-सूची

भूमिका

शैवदर्शन का इतिहास

शैव सम्प्रदाय - शैव सम्प्रदाय अत्यधिक पुराना है। आज भी शिव को मानने वालों, उपासना करने वालों की अच्छी खासी संख्या है। शैव सम्प्रदाय का अपना दर्शन 'शैवदर्शन' है। विद्वानों का विचार है कि शैव दर्शन में निम्नलिखित आठ सम्प्रदाय रहे हैं-

(१) पाशुपत द्वैत

(२) सिद्धान्त शैव द्वैत

(३) द्वैताद्वेत (लकुलीश का)

(४) विशिष्टाद्वैत शैव

(५) विशिष्टाद्वैत (वीर) शैव

(६) नन्दिकेश्वर शैव

(७) रसेश्वर शैव

(८) (कश्मीर का) अद्वैत शैव (प्रत्यभिज्ञादर्शन)

प्रत्यभिज्ञानदर्शन- संक्षिप्त परिचय - यहाँ[1] हम प्रत्यभिज्ञानदर्शन के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे-

'प्रत्यभिज्ञा' शब्द - 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है 'पहचान'[2]। जीव जो

---

१. उक्त सभी सम्प्रदायों के ज्ञान के लिए देखें 'Bhaskari Vol. III, Śaiva Philosohhy: Dr. K.C. Panday', 1954

२. 'प्रत्यभिज्ञा' **प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते - इति वक्ष्यते। प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका।'** (विमर्शिनी- १/१/१, पृष्ठ १९-२०)

वस्तुतः शिव है उसने अपने स्वरूप को अज्ञानवश भुला दिया है। यदि प्रत्यभिज्ञादर्शनोक्त उपायों से वह अपने स्वरूप को पहचान ले तो मुक्त हो जाये क्योंकि यदि वह अपने स्वरूप को पहचान लेता है तो उसके सभी बन्धन कट जायेंगे- **'प्रत्यभिज्ञात-जिनस्वरूपविद्राविताशेषपाशराशित्वात्'।**

वाङ्मय (शैवदर्शन)- शैवदर्शन का वाङ्मय प्रकारान्तर से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(१) आगमशास्त्र

(२) स्पन्दशास्त्र

(३) क्रम

(४) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

ध्यान रहे आगम ही अपर तीनों- स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा एवं क्रम का आधार है। स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा एवं क्रम तीनों ही अद्वैत शैवदर्शन की शाखायें समझी जानीं चाहिये।

(१) ***आगमशास्त्र*** - आगम को दैवी सम्पदा माना जाता है अर्थात् इनका दैवी आविर्भाव माना जाता है। यहाँ शिव एवं पार्वती ही वक्ता एवं श्रोता हैं। समग्र आगम शास्त्र वैष्णवसम्मत है-

'आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।'

आगमशास्त्र के अन्तर्गत मुख्य ग्रन्थ हैं- स्वच्छन्दतन्त्र, मालिनीविजय, शिवसूत्र[१], विज्ञानभैरवतन्त्र, नेत्रतन्त्र, मृगेन्द्रतन्त्र, रुद्रयामलतन्त्र आदि। इन ग्रन्थों में से कतिपय की व्याख्यायें भी उपलब्ध होती हैं। अद्वैतदर्शन के उद्भव के पूर्व आगमशास्त्रों की द्वैतपरक व्याख्या प्रचलन में थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य के कश्मीर-आगमन के पश्चात् यहाँ अद्वैत शैवदर्शन के उद्भावन की प्रेरणा मिली।

(२) ***स्पन्दशाखा*** - इसके अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ प्रमुख हैं-

(i) **स्पन्दकारिका**- इसे वसुगुप्त (९वीं शताब्दी का द्वितीय चतुर्थ) की रचना मानी जाती है, किन्तु कर्तृत्व विवादास्पद है क्योंकि कुछ लोग इसे भट्ट कल्लट की रचना मानते हैं। 'स्पन्दकारिका' को 'स्पन्दसूत्र' भी कहा गया है। 'शिवसूत्र' को आधार बनाकर

१. कहा जाता है कि वसुगुप्त को स्वप्न में एक शिलातल पर अङ्कित शिवसूत्रों के उद्धार की दैवी प्रेरणा प्राप्त हुई। तदनुसार वसुगुप्त ने शिलाङ्कित शिवसूत्रों का उद्धार एवं प्रचार किया। कतिपय जन वसुगुप्त को ही 'शिवसूत्र' की रचना करने वाला मानते हैं, जबकि पराम्परा के अनुसार शिवसूत्र भगवान् शिव के द्वारा अवतारित हैं।

स्पन्दकारिका की रचना की गई है, ऐसा विद्वानों का मत है।

स्पन्दकारिता ४ निःष्यन्दों में विभक्त है। प्रथम निःष्यन्द में १६ कारिकायें, द्वितीय में १२, तृतीय में ३ तथा चतुर्थ में २१ कारिकायें हैं। इस प्रकार समस्त कारिकाओं की संख्या ५१ है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थान्त में एक श्लोक द्वारा गुरुभारती की वन्दना भी की गई है। वह श्लोक इस प्रकार है-

'अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम्।

वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्।।'

(ii) **'स्पन्दकारिकावृत्ति'**[1]- इस ग्रन्थ के लेखक हैं भट्टकल्लट। यह स्पन्दकारिका की वृत्ति है जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है। स्पन्दकारिका एवं इस वृत्ति को मिलाकर अर्थात् दोनों के मिलितरूप को 'स्पन्दसर्वस्व' भी कहा जाता है। कल्लट कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (ईसवी सन् ८५५-८८३) के समकालीन थे।

(iii) **विवृति**- स्पन्दकारिका पर रामकण्ठ (लगभग ईसवी सन् ९२६-९७५) ने 'विवृति' नामक व्याख्या लिखी। रामकण्ठ उत्पलदेव के शिष्य माने जाते हैं[2]।

(iv) **स्पन्दनिर्णय**- स्पन्दकारिका की व्याख्या। 'स्पन्दनिर्णय' के रचयिता हैं क्षेमराज। क्षेमराज अभिनवगुप्त के शिष्य थे। स्पन्दनिर्णय सम्पूर्ण 'स्पन्दकारिका' की व्याख्या है जो कि प्रकाशित हो चुकी है।

(v) **स्पन्दसन्दोह**- यह केवल प्रथम स्पन्दकारिका की टीका है। इसके रचयिता हैं क्षेमराज। यह टीका विस्तृत है जिसमें लगभग सभी कारिकाओं का तत्त्व समाहित है।

(vi) **स्पन्दप्रदीपिका**- इसके रचयिता उत्पल (वैष्णव) हैं जो कि उत्पलाचार्य (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका के रचयिता) से भिन्न हैं। सम्पूर्ण स्पन्दकारिका पर लिखी गई यह व्याख्या विस्तृत भी है।

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्दसिद्धान्तों में प्रायः सर्वत्र समानता है। अन्तर केवल चरमतत्त्व के अनुभव के निमित्त ग्राह्य साधनों को लेकर है। स्पन्दशास्त्र में शाम्भव, शाक्त एवं आणव मार्ग द्वारा परम तत्त्व का अनुभव स्वीकार किया जाता है जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन ('शिवदृष्टि') में इस विषय में अदृष्टपूर्व सुकर उपाय बतलाया गया है-

१. भट्टकल्लटवृत्ति के सहित स्पन्दकारिका का हिन्दी अनुवाद एवं विवरण **प्रो० नीलकण्ठ गुरुटू** ने लिखा है जो मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया है। द्वितीय संस्करण : वाराणसी १९८४

२. विवृति की पुष्पिका में स्वयं रामकण्ठ ने स्वयं को **श्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीवी ('कृतिस्तत्रभवतो.... 'श्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो' राजानकश्रीरामकण्ठस्य इति शिवम्)** कहा है। इससे वे उत्पलदेव के शिष्य समझे जाते हैं।

'इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्ध्यति।।'

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- ४/२/१)

इस विषय की स्वीकृति देते हुए डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय लिखते हैं-

'The only point where the two differ is the means of realising the Highest Reaity. The spand showed the three well known paths to the said realisation, namely, Śāmbhava, Śākata and Āṇava, as is clear from the three chaptess of the Śivasūtra, called after the above three means, But the Pratyabhijñā, according to the statement of the author of the Pratyabhijiñā- Sūtra or Kārikā, showed an easier path to it which was not known before and which was, for the first time, pointed out by Somānanda in his Śivadṛṣti'[1]

(३) ***क्रमसम्प्रदाय***[२]- अभिनवगुप्त ने लक्ष्मणगुप्त, भूतिराज एवं भूतिराज के पुत्र हेलाराज से क्रमसम्प्रदाय का विधिवत् अध्ययन किया था।

अभिनवगुप्त को भूतिराज ने द्वैत शैवागम, ब्रह्मविद्या एवं क्रमदर्शन का सम्यक् बोध कराया था। अभिनवगुप्त अपने पिता चुखुलक से अधिक भूतिराज का सम्मान करते थे। इन्हें (भूतिराज को) शिव का अवतार माना जाता रहा है। अभिनवगुप्त के 'तन्त्रसार' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि भूतिराज ने क्रमदर्शन का भी कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा।

भूतिराज के पुत्र थे हेलाराज। हेलाराज भी अभिनवगुप्त के गुरु थे। हेलाराज ने भर्तृहरि की कृति 'वाक्यपदीयम्' की व्याख्या लिखी।

(४) ***प्रत्यभिज्ञाशास्त्र*** - प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्य एवं उनकी कृतियाँ-

(१) **सोमानन्द** - सोमानन्द से अभिनवगुप्त तक की शिष्य परम्परा इस प्रकार थी-

सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य, उत्पलाचार्य (उत्पलदेव) के शिष्य लक्ष्मणगुप्त थे, लक्ष्मणगुप्त के शिष्य थे अभिनवगुप्त।

---

१. Abhinavagupta : 'An Historical and Philosophical Study' P. 160
२. Ibid. p. 165-66.

कृतियाँ -

(i) **शिवदृष्टि** - ७ आह्निकों में लगभग ७०० कारिकाओं का समावेश है। इसमें शैवाद्वैत की पुष्टि में तर्क को आधार बनाया गया है।

(ii) **विवृति** - कहा जाता है कि सोमानन्द ने अपनी 'शिवदृष्टि' पर 'विवृति' नामक व्याख्या का प्रणयन किया था। इस कथन को कुछ लोग मात्र कल्पना मानते हैं।

(iii) **परात्रिंशिकाविवृति** - जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है यह 'परात्रिंशिका' संज्ञक ग्रन्थ की व्याख्या है।

(२) **उत्पलदेव** - उत्पलदेव सोमानन्द के पुत्र तथा शिष्य दोनों ही थे। इनका समय ९वीं शताब्दी के अन्त एवं दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।

कृतियाँ-

(i) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र)- 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन का नाम इसी ग्रन्थ के नाम पर पड़ा प्रतीत होता है। वस्तुतः इसे प्रत्यभिज्ञादर्शन की प्रथम मौलिक कृति मानना चाहिए। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि इस पर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिनी' एवं 'विवृतिविमर्शिनी' संज्ञक दो व्याख्याओं की रचना की है।

(ii) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति** - 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखी गई संक्षिप्त व्याख्या है।

(iii) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका** - 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' की यह महत्त्वपूर्ण टीका अप्राप्य है। इसे 'विवृति' भी कहा गया है।

(iv) **स्तोत्रावली** - सहस्रों स्तोत्रों के होते हुए भी 'स्तोत्रावली' का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

(v) **वृत्ति**- सोमानन्द की 'शिवदृष्टि' पर लिखी गई इनकी व्याख्या का नाम 'वृत्ति' है। 'शिवदृष्टि' के चतुर्थ आह्निक की ७४वीं कारिका तक ही यह वृत्ति प्राप्त होती है। 'शिवदृष्टि' के समझने के लिए वस्तुतः 'वृत्ति' अत्यधिक उपादेय है।

(३) **लक्ष्मणगुप्त** - इन्होंने 'श्रीशास्त्र' ग्रन्थ लिखा था किन्तु यह ग्रन्थ मिलता नहीं है। लक्ष्मणगुप्त ने अपने पिता उत्पलदेव से विद्या प्राप्त की थी। अभिनवगुप्त ने लक्ष्मणगुप्त के चरणों में बैठकर प्रत्यभिज्ञा एवं क्रमदर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी।

(४) अभिनवगुप्त

समय- शैवाद्वैतवादी कश्मीर के जिन अभिनवगुप्त का विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है वे माधवकृत 'शङ्करदिग्विजय' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित कामरूप (आसाम) के शाक्त अभिनवगुप्त से भिन्न हैं। शङ्करदिग्विजय में अभिनवगुप्त के साथ

शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ होने का उल्लेख है, अतः ये आचार्य शङ्कर (ईसवी सन् ७८८-८२०) के समकालीन मान्य होंगे, जबकि कश्मीर के शैव अभिनवगुप्त का समय ईसा की १०वीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं ११वीं शताब्दी का प्रारम्भिक चतुर्थांश माना जाता है।

पूर्वज- अभिनवगुप्त के पूर्वज अन्तर्वेद (गङ्गा एवं यमुना के बीच का भूभाग) के निवासी थे। ८वीं शताब्दी में कन्नौज के राजा यशोवर्मा का शासन अन्तर्वेद में था। उस समय कश्मीर के राजा थे ललितादित्य जो अन्तर्वेदनिवासी परम विद्वान् अत्रिगुप्त (अभिनवगुप्त के पूर्वज) के विद्याचरणादि विविध गुणों से अत्यधिक प्रभावित थे। ललितादित्य ने जैसे ही यशोवर्मा पर विजय प्राप्त की अत्रिगुप्त से विनम्र प्रार्थना की कि वे ललितादित्य के साथ कश्मीर चलकर वहीं निवास करें। अत्रिगुप्त ने ललितादित्य (ईसवी सन् ७२५-७६१) की विनम्र प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। राजा ने वितस्ता (झेलम) नदी के किनारे अत्रिगुप्त के परिवार के लिए एक भव्य भवन बनवा दिया तथा आजीविका के निमित्त पर्याप्त जागीर भी दी।

अभिनवगुप्त के पितामह का नाम वराहगुप्त माना जाता है। अभिनव के पिता का नाम नरसिंहगुप्त था। नरसिंहगुप्त का दूसरा नाम 'चुखुलक' था। परम शैव नरसिंहगुप्त सर्वशास्त्रवेत्ता थे। अभिनवगुप्त की माता का नाम था 'विमलकला'। विमलकला अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं।

अभिनवगुप्त के गुरुजन - अभिनवगुप्त ने अपने समय के अग्रगण्य प्रसिद्ध विषयविशेषज्ञों से शिक्षा प्राप्त की थी[१]।

इन्होंने अध्ययन किया था-

१.	अपने पिता नरसिंह गुप्त से	व्याकरण
२.	वामनाथ से	द्वैततन्त्र
३.	भूतिराज से	ब्रह्मविद्या
४.	भूतिराजतनय से	द्वैताद्वैतशैव
५.	लक्ष्मणगुप्त से	क्रम तथा त्रिकदर्शन
६.	इन्दुराज से	ध्वनि
७.	भट्टतोत से	नाट्यशास्त्र

१. निम्नलिखित २० शिक्षकों के विवरण का आधार प्रोफेसरकान्तिचन्द्रपाण्डेयकृत 'Abhinavagupta : An Historical and Philosophical study' नामक ग्रन्थ (Page No. 12) है।

उक्त ७ व्यक्तियों के अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अन्य जिन आचार्यों से विद्या ग्रहण की थी वे हैं- ८. श्रीचन्द्र, ९. भक्तिविलास, १०. योगानन्द, ११. चन्द्रवर, १२. अभिनन्द, १३. शिवभक्ति, १४. विचित्रनाथ, १५. धर्म, १६. शिव, १७. वामन, १८. उद्भट, १९. भूतीश तथा २०. भास्कर। श्रीचन्द्र आदि में से किस व्यक्ति से कौन सा विषय अभिनवगुप्त ने पढ़ा था, यह अज्ञात है।

अभिनवगुप्त की कृतियाँ -

१. 'तन्त्रालोक
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
४. परात्रिंशिकाविवृति
५. तन्त्रवटधानिका
६. तन्त्रसार
७. ध्वन्यालोकलोचन
८. अभिनवभारती
९. परमार्थसार
१०. भगवद्गीतार्थसंग्रह
११. घटकर्परकुलकवृत्ति
१२. बोधपञ्चदशिका
१३. मालिनीविजयवार्तिक
१४. पर्यन्तपञ्चाशिका
१५. क्रमस्तोत्र
१६. भैरवस्तोत्र
१७. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र
१८. परमार्थद्वादशिका
१९. परमार्थचर्चा
२०. महोपदेशविंशतिका
२१. अनुत्तराष्टिका
२२. अनुभवनिवेदनम्

२३. रहस्यपञ्चाशिका

२४. तन्त्रोच्चय

२५. क्रमकेलि

२६. शिवदृष्ट्यालोचन

२७. पूर्वपञ्चिका

२८. लघुप्रक्रिया

२९. भेदवादविदारण आदि।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'Abhinavagupta : An Historical and Philosophical study' के पृष्ठ २७ से लेकर पृष्ठ १३१ तक में अभिनवगुप्तकृत ग्रन्थों का विशेष विवेचन प्रस्तुत किया है। पृष्ठ २७-२८ पर ४४ ग्रन्थों की सूची दी गई है। ग्रन्थों का कालनिर्णय, प्रकाशित एवं अप्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख, मात्र सन्दर्भों से जिन ग्रन्थों के नाम ज्ञात होते हैं उनका उल्लेख, ग्रन्थों में प्राप्त विवेचन आदि प्रायः सभी ऐतिहासिक तथ्यों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

कृतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१) **तन्त्रालोक** - यह अभिनवगुप्तकृत ग्रन्थराशि में सर्वाधिक बृहत्काय ग्रन्थ है। कर्मकाण्ड एवं दर्शन दोनों का विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है। कुल एवं तन्त्र के अतिरिक्त क्रम सम्प्रदाय का भी समावेश ग्रन्थ में है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ३७ आह्निकों में विभक्त है। राजानक जयरथ की 'तन्त्रालोकविवेक' नामक महत्त्वपूर्ण टीका के साथ तन्त्रालोक १२ खण्डों में काश्मीर संस्कृतग्रन्थावलि के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी है। 'तन्त्र' द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ज्ञान यतः इसके 'आलोक' (प्रकाश) के द्वारा होता है अतः इस ग्रन्थ का नाम तन्त्रालोक है-

'स तन्निबन्धं विदधे महार्थं युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्।
आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः सुखं संचरिता क्रियासु।।'

(तन्त्रालोक- ३७-८३)

तन्त्रालोक का प्रणयन 'मालिनीविजयतन्त्र' नामक आगम ग्रन्थ को आधार बनाकर किया गया है-

'न तदस्तीति यन्न श्री-मालिनीविजयोत्तरे।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः।।'

(तन्त्रालोक- १.१७)

तन्त्रालोक (१.२२) की इस कारिका-

'इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते। अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्।।' के विषय को अभिनवगुप्त की कल्पना को आधार न मानकर मालिनीविजयोत्तर को प्रमाण मानना चाहिये जैसा कि २३वीं कारिका के 'विवेक' में जयरथ लिखते हैं- **...इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे प्रोक्तम् इत्येतदधिकारेणैवायं ग्रन्थः प्रवृत्त इत्युपोद्वलितम्'**। अत: तन्त्रालोक का मुख्य उपजीव्य है मालिनीविजयतन्त्र।

(२) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** - इसे 'विमर्शिनी' भी कहा जाता है। 'विमर्शिनी' उत्पलाचार्य की वृत्तिसहित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका) की व्याख्या है। 'विमर्शिनी' को 'लघ्वी निमर्शिनी' इसलिए कहा जाता है कि अभिनवगुप्तकृत एक दूसरी व्याख्या 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी'[१] की अपेक्षा इस ('लघ्वी विमर्शिनी') का आकार 'लघु' है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' एवं 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' के कलेवर में ४ : १८ का अनुपात है। प्रथम का कलेवर ४ हजार श्लोकों का है जबकि द्वितीय का १८ हजारश्लोकसम्मित, अत; इनके नाम क्रमश: 'चतु:साहस्री' एवं 'अष्टादशसाहस्री' भी हैं।

चूँकि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकाओं पर अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' टीका लिखी है और इसी के एक अंश की व्याख्या यहाँ की जा रही है अत: कारिकाओं के विभाजन के रूप उनकी संख्या आदि भी ज्ञातव्य है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में चार अधिकार हैं। सम्पूर्ण ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकाओं की संख्या १९० है।

४ अधिकार क्रमश: ये हैं-

(i) ज्ञानाधिकार

(ii) क्रियाधिकार

(iii) आगमाधिकार एवं

(iv) तत्त्वसंग्रहाधिकार

(i) **ज्ञानाधिकार** में आह्निक ८ हैं एवं कुल कारिकायें ८८ हैं। विवरण इस प्रकार है-

आह्निक संख्या १ में	५ कारिकायें
आह्निक संख्या २ में	११ कारिकायें
आह्निक संख्या ३ में	७ कारिकायें
आह्निक संख्या ४ में	८ कारिकायें

---

१. यह ग्रन्थ उत्पलाचार्यकृत प्रत्यभिज्ञाकारिका (उन्हीं की रचित टीकासहित) की व्याख्या है।

आह्निक संख्या ५ में	२१ कारिकायें
आह्निक संख्या ६ में	११ कारिकायें
आह्निक संख्या ७ में	१४ कारिकायें
आह्निक संख्या ८ में	११ कारिकायें
	८८ कुल कारिकायें

(ii) **क्रियाधिकार** में आह्निक एवं कारिकायें -

आह्निक संख्या १ मे	८ कारिकायें
आह्निक संख्या २ में	७ कारिकायें
आह्निक संख्या ३ में	१७ कारिकायें
आह्निक संख्या ४ में	२१ कारिकायें
	५३ कुल कारिकायें

(iii) **आगमाधिकार** के २ आह्निकों में कुल ३१ कारिकायें हैं-

आह्निक संख्या १ में	११ कारिकायें
आह्निक संख्या २ में	२० कारिकायें
	३१ कुल कारिकायें

(iv) **तत्त्वसंग्रहाधिकार** के २ आह्निकों में कुल १८ कारिकायें हैं-

आह्निक संख्या १ में	१५ कारिकायें
आह्निक संख्या २ में	३ कारिकायें
	१८ कुल कारिकायें

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ४ अधिकार, १६ आह्निक एवं १९० (८८+५३+३१+१८) कारिकायें हैं।

व्याख्यास्यमानांश का सार - 'विमर्शिनी के प्रकृत व्याख्यास्यमान अंश (१/५/७-२१) का सार इस प्रकार है-

१/५/७- चिदात्मा देव (परेश) एक अद्वैत तत्त्व ही परमार्थ है। स्वयं उन्हीं से स्वयं उन्हीं में स्वयं वे ही प्रकाशित होते हैं। जड-चेतन जगत् के रूप में स्वयं वही प्रकाशित होते हैं। वे अपने भीतर से ही जगत् को प्रकट करते हैं। जो उनके भीतर था वही बाहर जगत् के रूप में प्रकाशित होता है। क्यों वे जगत् को प्रकाशित करते हैं ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है 'उनकी इच्छा'। अपनी इच्छाशक्ति से वे पदार्थों को प्रकट

करते हैं। इसके लिए न उन्हें उपादान कारण की आवश्यकता पड़ती न किसी की किसी प्रकार की सहायता की। वे अपने द्वारा अपने में अपने को ही प्रकट करते हैं जिसे हम संसार या जगत् कहते हैं। वे इस जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही हैं। जैसे योगी बिना किसी उपादान कारण के मात्र अपनी इच्छा से नगर आदि जड एवं सेना आदि चेतन पदार्थ को प्रकट कर देता है उसी प्रकार परेश इच्छा मात्र से जडचेतनात्मक जगत् को प्रकाशित कर देता है। वस्तुतः यह जगत् उनके भीतर ही शक्तिरूप में था जिसे उन्होंने बाह्यरूप प्रदान किया है।

१/५/८-९ – परेश से बाह्य कुछ नहीं। यह वाह्य जगत् जैसा कि बतलाया गया है परेश से ही उद्भूत है। अनुमान के द्वारा परेश से भिन्न अर्थ की सिद्धि नहीं होती क्योंकि अनुमान उसी पदार्थ का हो सकता है जिसका प्रत्यक्ष पहले हो चुका रहा होता है। अभिप्राय यह है कि चूँकि अग्नि का प्रत्यक्ष पहले रह चुका होता है (धूम के व्यापकरूप में) अतः अनुमान से उसका ज्ञान मान्य होता है।

प्रश्न- सामान्यतोदृष्ट अनुमानस्थल में यह नियम नहीं चरितार्थ होता है। यथा अर्थज्ञान (उदाहरणार्थ घट के प्रत्यक्ष) से इन्द्रिय की अनुमेयत्वेन प्रतीति कैसे मानी जा सकेगी क्योंकि इन्द्रिय तो प्रत्यक्ष का विषय कभी रही ही नहीं है। वह तो इन्द्रियातीत है।
उत्तर- कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे बीज से अङ्कुर। अङ्कुर से बीज का अनुमान होता है अर्थात् जैसे अङ्कुर का कारण बीज है उसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञान का कारण जो होता है वह इन्द्रिय है। इस प्रकार कारणत्वेन इन्द्रिय का ज्ञान हुआ रहता है, प्रत्यक्षत्वेन नहीं। हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष जिसके द्वारा हुआ है वह इन्द्रिय होगी। सारांश यह कि अनुमान उसी पदार्थ का हो सकता है जिसका पहले प्रत्यक्ष हो चुका हो। प्रत्यक्ष से तो बाह्य अर्थ की सिद्धि होती नहीं जैसा कि पहले कारिका संख्या १/५/७ एवं उसकी विमर्शिनी से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परेश से बाह्य कोई भी अर्थ नहीं होता। कथन का निष्कर्ष यही है कि परेश में ही सब कुछ है। उसी से सब प्रकट होता है।

१/५/१० – परेश में समस्त भावजात विद्यमान रहते हैं। भावजात उसका स्वरूप ही है। वह भावजात जब परेश के अन्दर होता है तब उसका प्रकाशन अहंरूपेण होता है और जब उसका प्रकाशन बाह्यरूप में होता है तब इदंरूपेण। जब अर्थजात भीतर होता है तब उसमें अहंता का भाव होता है और वही जब बाह्यरूप में होता है तब इदन्ता का। समस्त अर्थजात है परेशरूप ही। परेश की इच्छा से ही अन्तःस्थित भावजात बाह्यत्वेन प्रकाशित होते हैं। वह भावजात आन्तर एवं बाह्य दोनों रूपों में परेशरूप होते हैं, तद्भिन्न नहीं। वह परेश अपनी इच्छामात्र से- सङ्कल्पमात्र से स्वयं बाह्यत्वेन प्रकाशित होता है।

१/१५/११ – परमेश केवल प्रकाशरूप ही नहीं है, विमर्शरूप भी है अर्थात् वह प्रकाशविमर्शमय है। यदि उसे विमर्शात्मक न माना जायेगा तो 'अहंबोध' के अभाव में केवल प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के कारण (केवल प्रकाशरूप होने पर) तो वह स्फटिक के समान जडरूप में मान्य हो पायेगा (चेतन या चैतन्यरूप में नहीं), उसमें स्वातन्त्र्य-अनन्यमुखप्रेक्षित्व न रह पायेगा। यतः 'अहम्' में विश्रान्ति होती है, अन्य विश्रामस्थलों में मध्यम विश्राम मान सकते हैं अतः परेश में सर्वप्रधान है विमर्श।

१/५/१२ – यतः परेश में विमर्श की प्रधानता है अतः धर्मी परेश का परिचय 'धर्म' के द्वारा दिया जाता है। तभी तो चेतन (धर्मी) को 'चैतन्य' कहा जाता है। न केवल शैवदर्शन में आत्मा को चैतन्य ('चैतन्यमात्मा'-शिवसूत्र- १/१) कहा गया है अपितु अन्य दर्शनों में भी यही स्थिति है, यथा योगदर्शन में। चिति, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व आदि शब्दों के द्वारा विमर्श की महत्ता का ही प्रतिपादन होता है।

१/५/१३ – परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य-चेतन का सर्वस्व **'चिति'** है- **'चेतयति इति चितिः'**। चैतन्यभाव- स्वातन्त्र्य, विमर्श परमात्मा का ऐश्वर्य है। इसी को परावाक् भी कहते हैं जिस (परावाक्) से जगत् की सृष्टि आदि होती है।

१/५/१४ – यह जो 'चिति' है जिसे ही चैतन्य, परावाक्, स्फुरत्ता आदि कहते हैं 'महासत्ता' भी उचित ही कही जाती है। देश-काल इसे परिभाषित नहीं कर पाते। यह परेश (परमेष्ठी) का हृदय है और जगत् का सार है। चैतन्य इसलिये कि इसे अपनी चेतना रहती है अहं रूप में; घट को नहीं रहती है अतः धट अचेतन- जड है। यह 'स्फुरत्ता' इसलिए कि यह हमारे स्फुरण अर्थात् स्पन्दन में प्रविष्ट है, तभी तो **'घटो मम स्फुरति'** का अर्थ होता है **'प्रकाशात्मा अहं घटरूपेण स्फुरामि'** (प्रकाशरूप मैं घटरूप में प्रकाशित हो रहा हूँ)। जब मुझे घट का ज्ञान होता है तब मैं और घट एकरूप हो जाते हैं। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'मैं घट रूप में ही आभासित हो रहा हूँ'। तत्त्वतः 'अहम्' और 'घट' में भेद ही नहीं है। यह 'महासत्ता' इसलिए है कि आत्मा शिव ही है जो सर्वरूप है क्योंकि जो होता है उसका वह 'होना' ही सत्ता है अतः जो सबमें 'है' वही है 'महासत्ता'। वह सबको व्याप्त करती है। यही (महासत्ता अर्थात् चिति या परावाक्) जगत् का सार है- जीवन है। यही हृदय है- प्रतिष्ठास्थान है क्योंकि 'अहम्' में चेतन की विश्रान्ति होती है, जड में नहीं। जड की विश्रान्ति चेतन में और चेतन की विश्रान्ति होती है अहम् में- विमर्शशक्ति में। और जैसा कि बतलाया गया है पदार्थजात परावाक् से ही उद्भूत होते हैं। अन्य दार्शनिक भी प्रकारान्तर से इसे स्वीकार ही करते हैं।

१/५/१५-१६ – माना कि परेश में अनन्त शक्तियाँ हैं तथापि विमर्शशक्ति सर्वप्रधान है क्योंकि इसी से अपना ज्ञान (अहंबोध) होता है। स्वबोध में इसीलिए प्रमाता

अनन्यमुखप्रेक्षी नहीं है। परेश स्वयं को ही ईश्वर आदि के रूप में- इदन्तया निर्माण करता है किन्तु वह (ईश्वर) **'इदम्'** का विषय होते हुए भी 'अहंरूप' विमर्शयुक्त होता है। यही परेश का वैचित्र्य ऐश्वर्य है कि अपने को (ईश्वर को) इदं-रूप में प्रकट भी करता है किन्तु स्वतन्त्ररूप में। यहाँ इदन्ता एवं स्वातन्त्र्य में एकरूपता रहती है। इदन्ता और अहंता में यहाँ विरोध नहीं रहता।

१/५/१७ – विमर्श है प्रमाण का सार। ईश्वर की सृष्टि होने के कारण वह 'इदम्' रूप में समझा जाता अवश्य है किन्तु उसकी सृष्टि अहंविमृश्य (जिसमें अहंविमर्श की योग्यता है) के रूप में की जाती है, अत: इदन्ता एवं अहंता में विरोध नहीं है। तभी ईश्वर के कर्तृत्व में अनन्यमुखप्रेक्षित्व नहीं है। परामर्श-पार्यन्तिक विश्राम स्थान है, अत: सर्वप्रधान है।

१/५/१८ – परेश की अनन्त शक्तियाँ हैं, यथा- ज्ञान, स्मृति आदि। ज्ञान के ही भेद हैं- निर्णय, संशय एवं विविध पदार्थ। ये पदार्थ परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं। आत्मा से भिन्न प्रतीत होने वाले अवभास मायाकृत हैं। वस्तुत: ज्ञान, सङ्कल्प, अध्यवसाय आदि नाम से उस परावाक् का कथन होता है। वही सभी अवभासों का विश्रान्तिपद है। अत: पदार्थों में- अवभासों में भेद यथार्थ नहीं है। यह भेद मायाकृत है। ईश्वर, सदाशिव आदि की स्थिति में भेद का दर्शन नहीं होता। वहाँ 'अहम्' में ही सबका समावेश है। 'सब' से अभिप्राय विविध वस्तुओं को क्यों लें क्योंकि उस स्थिति में भेद है ही नहीं। अनुसन्धाता पराम्रष्टा संविद् की ही ज्ञान आदि शक्तियाँ हैं। अत: संविद् से परे कुछ भी नहीं है। सबकी संविद्रूपता है।

१/५/१९ – प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार विमर्श प्रत्येक स्थिति में रहता है। वाक् (शब्दयोग) ही विमर्श है। यही कारण है कि निर्विकल्पक (शब्दकल्पना से रहित) प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है। वस्तुत: जिसे अन्य दार्शनिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानते और कहते हैं उस अवस्था में भी सूक्ष्म शब्दयोग रहता है। शब्दयोग के बिना चिन्तन-बोध-ज्ञान हो ही नहीं सकता। वस्तुत: वाक् से ही पदार्थजात- समग्र जगत् का उदय हुआ है। जगत् तद्रूप (वाग्रूप) है। फिर वाक् का सम्पर्क किसी भी स्थिति में लुप्त हो ही नहीं सकता है। यह सम्भव ही नहीं है कि विमर्श में शब्द का भान न हो। विमर्श अर्थात् स्पन्द ही सबका प्राण है। इसका अपलाप किसी स्थिति में असम्भव है। सूक्ष्मता को अभाव मानना उचित नहीं।

१/५/२० – शब्द एवं अर्थ भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हों सविकल्पकज्ञानस्थल में तथापि परमेश्वर की अध्यवसायशक्ति सदैव अहंरूप में प्रकाशित होती है। इसके प्रकाशन में अहंता का विच्छेद नहीं होता। कारण, विश्रान्ति सदैव अहंता में ही होती है, अन्यथा परमुखापेक्षित्व का प्रसङ्ग उठ खड़ा होता है। इसलिए यही मानना उचित होता

है कि विमर्शमात्र प्रकाश से अभिन्न होते हैं। परमार्थतः परेश से (उसकी शक्ति विमर्श से- अहम् से) भिन्न कुछ भी नहीं होता। सभी भावजात तद्रूप ही है- अहंरूप ही है।

१/५/२१ – **समस्या**- तब जब सब कुछ 'अहम्' के ही अन्तर्गत होगा तो 'इदन्ता' के सर्वथा लोप होने का प्रसङ्ग होता है किन्तु इदन्तया आभास तो होता है। यह तो विप्रतिपत्ति हुई **समाधान**- मायाकृत देश एवं काल के कारण क्रम का बोध होता है, फलतः भिन्नता का बोध होता है। परमार्थ तो यही है कि संवित्तत्त्व क्रमशून्य है। विविधता एवं वैचित्र्य वस्तुतः मायाजन्य है। परेश ही एक तत्त्व है। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान सब एक ही तत्त्व है। यही परमार्थ है। परमार्थ अद्वैत है, द्वैत नहीं।

(३) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी**- जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है उत्पलाचार्य ने अपनी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर 'विवृति' नाम की टीका (विस्तृत व्याख्या) लिखी थी। टीकासहित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकरिका' की अभिनवगुप्त ने जो व्याख्या लिखी है वही है 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' (विवृतिविमर्शिनी)[१]। इस ग्रन्थ को 'बृहत्प्रत्यभिज्ञा' तथा 'अष्टादशसाहस्रिका' भी कहा जाता है[२]।

काश्मीर-संस्कृतग्रन्थावलि के अन्तर्गत यह ग्रन्थ ३ भागों में प्रकाशित हो चुका है-

प्रथम भाग ग्रन्थाङ्कसंख्या ६०, सन् १९३८

द्वितीय भाग ग्रन्थाङ्कसंख्या ६२, सन् १९४१

तृतीय भाग ग्रन्थाङ्कसंख्या ६५, सन् १९४३

(४) **परात्रिंशिकाविवृति**- यह अभिनवगुप्त की एक कृति है। यह परात्रिंशिका नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। इस ग्रन्थ की अन्य व्याख्यायें भी प्राप्त होती हैं। इसमें परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

व्याख्याकार ने वस्तुतः सफल व्याख्या प्रस्तुत की है।

(५) **तन्त्रवटधानिका**- इस कृति में तन्त्रालोक की विषयवस्तु अत्यन्त सूक्ष्मरूप

---

१. '.....that Utpala Deva, the only known disciple of Somānanda, spent his life time in preaching and popularising the teachings of his preceptor as given in the Shivadrishti. With this very end in view he composed his work called Iśvarpratyabhijñā in 190 couptets. To make their meaning clear to the reader, he also supplied his own gloss and Commentary on each couplet, in the former giving the substance and in the latter discussion thereon. (Introduction Page III. Vol. I ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी)

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, Vol I, Introduction Page III

में- संक्षेप में अभिनवगुप्त के द्वारा समाविष्ट की गई है। वैसे 'तन्त्रसार' कृति भी तन्त्रालोक का संक्षिप्त रूप है तथापि वह तन्त्रवटधानिका से बड़ा है।

(६) **तन्त्रसार**- इस ग्रन्थ में 'तन्त्रालोक' के कलेवर को संक्षिप्त करके उस (तन्त्रालोक) के सार का समावेश किया गया है, इस बात की सूचना तन्त्रसार के प्रथम आह्निक (द्वितीय श्लोक) में अभिनवगुप्त ने दी है-

'विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः शृणुत।।'

तन्त्रसार में कुल २२ आह्निक हैं। यद्यपि 'तन्त्रवटधानिका' संज्ञक कृति भी तन्त्रालोक का संक्षिप्तरूप ही है तथापि तन्त्रालोकरूपी वटवृक्ष का बीज- अतिलघु है 'तन्त्रवटधानिका'- जैसा कि इसका नाम है। तन्त्रसार 'तन्त्रवटधानिका' की अपेक्षा बड़ा है।

(७) **ध्वन्यालोकलोचन** - आनन्दवर्धन (९वीं शताब्दी ईसवी) के ध्वन्यालोक संज्ञक प्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय (ध्वनिपोषक) ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त ने 'लोचन' संज्ञिका प्रौढ टीका लिखकर काव्यजगत् में ध्वनि को परममहत्त्व पद पर स्थिर कर दिया। अभिनवगुप्त ने ध्वनि का अध्ययन 'इन्दु' नामक अपने गुरु के चरणों में बैठकर किया था, जैसा कि लोचन में उन्होंने बड़े सम्मान से उल्लेख किया है-

'भट्टेन्दुराजकमलाब्जकृताधिवास-
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
यत्किञ्चदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य।।'[1]

ध्वन्यालोक पर लोचन टीका के पूर्व 'चन्द्रिका' संज्ञक कोई व्याख्या लिखी गई थी, जिसका सङ्केत अभिनवगुप्त लोचन में करते हैं। चन्द्रिका- व्याख्याकार संभवतः अभिनवगुप्त के वंश के ही थे[2]। अभिनवगुप्त अपनी टीका के महत्त्व को पूर्णतया जानते थे। वे कहते हैं कि क्या चन्द्रिका के द्वारा बिना लोचन के आलोक का बोध हो सकता है ? तभी तो अभिनवगुप्त ने लोचन का उन्मीलन (लोचनोन्मीलन) किया-

'किं लोचनं विनालोको याति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।'[3]

---

१. लोचन (प्रारम्भ से द्वितीय श्लोक)

२. 'इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन'

३. लोचन (ध्वन्यालेक- १.१९)

(८) **अभिनवभारती** - 'अभिनवभारती' भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्तकृत व्याख्या है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है अभिनवगुप्त के नाट्यशास्त्रगुरु थे भट्टतोत। अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में प्राय: भट्टतोत के मौखिक व्याख्यानों का अनुसरण किया है[१], तथापि यत्र तत्र वे भट्टतोत से सहमत नहीं भी हैं। कठिन स्थलों को स्पष्ट करके, अप्रचलित शब्दों के अर्थों का आश्रय प्रस्तुत करके, विवादास्पद विषयों एवं संदेहास्पद स्थलों पर सम्यक्तया प्रकाश डालकर विषय एवं ग्रन्थ को सर्वग्राही बनाने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

रसस्वरूप के विषय में जो सिद्धान्त इन्होंने पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के सिद्धान्तों का परिमार्जन करने के अनन्तर प्रस्तुत किया है वह आज भी काव्यशास्त्रियों के लिए शिरोधार्य हो रहा है। अभिनवगुप्त की विद्वत्ता, बहुश्रुतत्व एवं प्रतिभा सर्वत्र देखी जा सकती है।

अभिनवभारती के दो संस्करणों में से एक में कुल ३६ आह्निक हैं जबकि दूसरे में ३७। विद्वानों का मत है कि ३७वाँ आह्निक बाद में जोड़ा गया है।

(९) **परमार्थसार**- अभिनवगुप्तरचित 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ में कुल १०५ कारिकायें हैं जिन्हें अभिनवगुप्त ने 'आर्या' कहा है क्योंकि वे 'आर्या' नामक छन्दोविशेष में लिखी गई हैं। अभिनवगुप्त ने वहाँ 'आर्याशतेन' का उल्लेख करके १०० कारिकाओं के होने का सङ्केत किया है-

'आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम्।
अभिनवगुप्तेन मया शिवचरणस्मरणदीप्तेन।।' (१०५)

जबकि समस्त कारिकाओं की संख्या १०५ है। इसका कारण जैसा कि डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने बतलाया है साक्षात् मुख्य विषय का विवेचन १०० आर्याओं के माध्यम से किया गया है तथा तदतिरिक्त आर्याओं में अतिरिक्त सम्बद्ध विषय पर विचार प्रस्तुत किया है, उचित ही है (Abhinavagupta : An Historical and philosophical Study p. 64)

ध्यान रहे अभिनवगुप्त का परमार्थसार एक प्राचीन वेदान्तग्रन्थ था, जिसमें सांख्यदर्शनसम्मत प्रकृतिपुरुषविवेक का विवेचन है, शैवदर्शनसम्मत रूपान्तरण है। इस प्राचीन ग्रन्थ को भी 'परमार्थसार' कहा गया है-

'वेदान्तशास्त्रमखिलं विलोक्य शेषस्तु जगदाधारः।
आर्यापञ्चाशीत्या बबन्ध परमार्थसारमिदम्।।' (शेषप्रणीत परमार्थसार ८७)

---

१. **सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद-तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः। माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति।।'** (अभिनवभारती)

इस अन्तिम आर्या के अनुसार इसकी रचना जगत् के 'आधार' भगवान् शेष (अनन्त) ने की है। इसमें कुल ८७ कारिकायें हैं। मुख्य विषय का विवेचन ८५ कारिकाओं में होने के कारण 'पञ्चाशीत्या' पद का प्रयोग उचित ही है। शेषप्रणीत परमार्थसार की प्रथम कारिका में विष्णु की वन्दना है जबकि अभिनवगुप्त ने 'शम्भु' (शिव) की वन्दना की है-

'परं परस्याः प्रकृतेरनादिमेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव विष्णुं शरणं प्रपद्ये।।'

(शेषप्रणीतपरमार्थसार-१)

'परं परस्थं गहनादनादिमेकं विशिष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये।।'

(अभिनवप्रणीत परमार्थसार- १)

शेषप्रणीत परमार्थसार के कतिपय अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं ताकि उसके विषय एवं प्रकृति का किञ्चित् ज्ञान हो सके।

'आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपि लोको भग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे भवाम्बुराशौ रमते मृषैव।।' (२)

'गर्भगृहवाससम्भवजरामरणविप्रयोगाब्धौ।
जगदालोक्य निमग्नं प्राह गुरुं प्राञ्जलिः शिष्यः।।' (३)

'.......................प्रकृतिं पुरुषं च मे ब्रूहि।
इत्याधारो भगवान् पृष्ठः.....................।।' (७)

'यद्वत् सवितर्युदिते करोति कर्माणि जीवलोकोऽयम्।
न च तानि करोति रविर्न कारयति तद्वदात्मापि।।' (१३)

'को मोहः कः शोकः सर्वं ब्रह्मावलोकयतः।' (५९)

'ज्वलनाद्धूमोद्गतिभिर्विविधाकृतिरम्बरे यथा भाति।
तद्वद् विष्णौ सृष्टिः स्वमायया द्वैतविस्तरा भाति।।' (३३)

'देहेन्द्रियेषु नियताः गुणकर्माः कुर्वते स्वभोगार्थम्।
नाहं कर्ता न ममेति जानतः कर्म नैव बध्नाति।।' (३७)

'मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानमयग्रन्थेर्भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम्।। (७३)

अभिनवगुप्तप्रणीत परमार्थसार के कतिपय उद्धरण विषयबोध में सहायक हो सकेंगे-

'गर्भाधिवासपूर्वकमरणान्तकदुःख-चक्रविभ्रान्तः।
आधारं भगवन्तं शिष्यः पप्रच्छ परमार्थम्।। (२)
'आधारकारिकाभिस्तं गुरुरभिभाषते स्म तत्सारम्।
कथयत्यभिनवगुप्तः शिवशासनदृष्टियोगेन।।' (३)
'सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्।।' (११)
मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।।' (६०)
'निरुपमपरमानन्दं यो वेत्ति स तन्मयो भवति।' (८२)
तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्।
ज्ञातसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।।' (८३)
'इदमभिनवगुप्तोदितसंक्षेपं ध्यायतः परं ब्रह्म।
अचिरादेव शिवत्वं निजहृदयावेशमभ्येति।।' (१०४)

(१०) **भगवद्गीतार्थसंग्रह** - इसे 'श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह' तथा 'गीतार्थसंग्रह' भी कहते हैं। यह भगवद्गीता की ऐसा व्याख्या नहीं है जो प्रतिपद एवं प्रतिश्लोक का व्याख्यान प्रस्तुत करती हो। उदाहरण के लिए अध्याय २ के श्लोक संख्या ४२ एवं ४३ पर अभिनवगुप्त ने मात्र श्लोकों का सङ्केत ही दिया है, अर्थावबोध के नाम पर उसमें कुछ भी नहीं है[१]।

वस्तुत: 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' जैसा कि इसका नाम है 'संग्रह' (संक्षिप्त) है। संग्रह का अर्थ होता है- 'जिस कृति से नाना स्थानों में विद्यमान पदार्थों को एक स्थान पर संक्षिप्त रूप में समझा जाये[२]। इस प्रकार ग्रन्थ सामान्यरूपेण संक्षिप्त ही है। हाँ कहीं-कहीं अपेक्षाकृत कुछ अधिक समझाया गया है। 'गीतार्थसंग्रह' में अभिनवगुप्त ने शैव दर्शन की दृष्टि से गीता का अर्थ लिखा है अर्थात् अभिनवगुप्त के अनुसार गीता में शैवदर्शन का प्रतिपादन है। अभिनवगुप्त के अनुसार उन्होंने गीता का अध्ययन भट्टेन्दुराज से किया था किन्तु अध्ययन के बाद भी उन्होंने गीता पर बुद्धिपूर्वक चिन्तन करके ही

---

१. (i) **'तथा च यामिमामिति।। ४२।। कामात्मान इति।। ४३।।** (गीतार्थसंग्रह, २-४२,४३)
(ii) कहीं संक्षेप में कई श्लोकों का अर्थ एक साथ ही दे दिया गया है। देखें गीतार्थसंग्रह (९-१६.१७.१८)

२. (i) संग्रह = संक्षेप
(ii) **'संक्षेपेण गृह्यन्ते नानास्थाने विप्रकीर्णा अर्था बुध्यन्तेऽनेन संग्रहः'** (शब्दकल्पद्रुम)

'गीतार्थसंग्रह' लिखा[१] है। अभिनवगुप्त का यह प्रयास रहा है कि वेदमार्गानुग आदि सभी वर्ग आगम को प्रमाण मानें। इसी क्रम में तन्त्रालोक में कहा गया है कि राम ने भी आगम का आंशिकज्ञान प्राप्त किया था। जनता में लोकप्रिय ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' की शैवदर्शनपरक व्याख्या करने का उद्देश्य शैवमत का जनता में प्रचार ही कहा जायेगा। समाज में समरसता का भाव उत्पन्न करने में अभिनवगुप्त का प्रशस्य अवदान रहा है।

(११) **घटकर्परकुलकवृत्ति** - 'घटकर्परकुलक' संज्ञक कृति पर अभिनवगुप्त द्वारा लिखित वृत्ति ही है 'घटकर्परकुलकवृत्ति'। कतिपय विद्वान् 'घटकर्परकुलक' को घटकर्पर कवि की रचना मानते हैं जबकि अनेक विद्वान् इसे कालिदास की रचना मानते हैं।

घटकर्परकुलक में मात्र बीस श्लोक हैं जिसमें यमक का अत्युत्तम प्रयोग है। घटकर्परकुलक पर अन्य बहुत से विद्वानों की भी व्याख्यायें प्राप्त होती हैं, जिनमें प्रमुख हैं- विद्यानाथ, विन्ध्येश्वरीप्रसाद, गोवर्धन, कुशल कवि, दिवाकर, गोविन्द ज्योतिर्विद्, कमलाकर भट्ट, रमापति मिश्र, ताराचन्द्र, शङ्कर, रामचरित शर्मा। इसके अतिरिक्त जर्मन, फ्रेञ्च, अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनुवाद भी प्राप्त होता है। घटकर्परकुलक गीतिकाव्य के अन्तर्गत माना जाता है।

अभिनवगुप्त की वृत्ति के द्वारा घटकर्पर काव्य के ध्वनिगर्भितत्व की पुष्टि होती है (देखें श्लोक संख्या २, ५, ७, १०, ११, १२, १९ की वृत्ति)

घटकर्परकुलकवृत्ति से इस तथ्य का भलीभाँति उद्घाटन हो जाता है कि शृङ्गाररस से पूर्ण घटकर्परकुलक ध्वनिकाव्य एवं चित्रकाव्य का अपूर्व एवं मनोरम उदाहरण है। कतिपय पाठक अत्यधिक प्रभावित होकर कुलक को यदि कालिदासरचित मानने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। सम्भव है घटकर्परकुलक कालिदासरचित ही हो जैसा कि बहुत से विद्वान् मानते हैं।

(१२) **बोधपञ्चदशिका** - वैसे 'बोधपञ्चदशिका' में पन्द्रह श्लोक होने चाहिये। ('पञ्चदशिका') परन्तु यदि यह माना गये कि १५ श्लोकों के द्वारा मुख्य प्रतिपाद्यविषय का प्रतिपादन किया गया है और एक के द्वारा उक्त अर्थ का कथन एवं 'बोधपञ्चदशिका' की यथार्थ संज्ञा कैसे हुई यह कथन किया गया है तो यहाँ संख्याविषयक कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, फलतः 'बोधपञ्चदशिका' का नाम यथार्थ है। देखें रचयिता के ही शब्दों में-

सुकुमारमतीञ्छिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः।।'

(बोधपञ्चदशिका, श्लोकसंख्या १६)

---

१. **'भटटेन्दुराजादाम्नायं विविच्य च चिरं धिया।**
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः।।' (मङ्गलादिश्लोकसंख्या ६)

शिव एवं शक्ति का स्वरूप, बन्धन का कारण एवं स्वरूप, बन्धन से मोक्ष, बन्धन एवं मोक्ष की शिवरूपता आदि विषय बोधपञ्चदशिका के मुख्य प्रतिपाद्य हैं।

(१३) **मालिनीविजयवार्तिक** - श्रीपूर्वशास्त्रापरपर्याय 'मालिनीविजय' नामक तन्त्र ग्रन्थ के कतिपय क्लिष्ट स्थलों (श्लोकों) का व्याख्यान 'मालिनीविजयवार्तिक' में किया गया है। मालिनीविजयवार्तिक खण्डित ही प्राप्त होता है। प्राप्त अंश में न्याय के अनेक प्रमुख सिद्धान्तों का प्रखर खण्डन किया गया है।

प्राप्त मालिनीविजयवार्तिक दो खण्डों में है। प्रथम खण्ड में ११३५ श्लोक हैं, जबकि द्वितीय खण्ड में ३३५। प्रारम्भ का श्लोक इस प्रकार है-

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः।
तदुभयामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात्।।

चतुर्थ श्लोक में शम्भुनाथ, पञ्चम में श्रीचुखल, षष्ठ में भूतिराज, सप्तम में सोमानन्द एवं श्री उत्पल का उल्लेख है।

द्वितीय काण्ड में जैसा कि बतलाया जा चुका है कुल श्लोकों की संख्या ३३५ है। इनमें अन्तिम श्लोक इस प्रकार है-

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः।
मालिन्यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म।। ३३५।।

(१४) **पर्यन्तपञ्चाशिका**- अभिनवगुप्त की इस कृति में कुल ५२ श्लोक प्राप्त होते हैं। अन्तिम दो श्लोकों (५१वें एवं ५२वें में क्रमशः) अनुत्तर महेश एवं गुरुजनों की वन्दना मान ली जाये तो विषय का विवेचन ५० श्लोकों में माना जा सकता है। फलतः उत्तरपद 'पञ्चाशिका' के निवेश का औचित्य सिद्ध होता है। ५२वाँ अर्थात् अन्तिम श्लोक इस प्रकार है-

शम्भोरभिन्नहृदया जयन्ति गुरवः पुरा।
निर्व्युत्थानसमाधानप्राप्तपर्यन्तसंविद।। (संपदः)।।

पर्यन्तपञ्चाशिका ३७ तत्त्वों का प्रतिपादन करती है जबकि उत्पलाचार्य की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के अनुसार ३६ तत्त्व होते हैं। पर्यन्तपञ्चाशिका 'भैरव' (अनुत्तर) नामक अधिक तत्त्व को स्वीकार करती है, अतः यहाँ प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रतिपादन को स्वीकार करने में औचित्य नहीं है।

वस्तुतः पर्यन्तपञ्चाशिका में मुख्यतः उस कुल दर्शन का प्रतिपादन है जिसकी

शिक्षा अभिनवगुप्त ने अपने गुरु शम्भुनाथ से प्राप्त की थी, न कि उस प्रत्यभिज्ञादर्शन का जिसका प्रतिपादन उत्पलाचार्य की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में किया गया है।

पूर्व अप्रकाशित कृतियाँ - अब अभिनवगुप्त की उन छोटी-छोटी कृतियों पर विचार किया जा रहा है जो अभी तक प्रकाशित नहीं थीं और जिन्हें डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने हस्तलिखित पाण्डुलिपियों से 'Abhinavagupta : An Historial and Philosophical study' संज्ञक ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। ऐसी कृतियाँ ९ हैं- अनुत्तराष्टिका, परमार्थद्वादशिका, परमार्थचर्चा, महोपदेशविंशतिकम्, क्रमस्तोत्रम्, भैरवस्तवः, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्, अनुभवनिवेदनम्, रहस्यपञ्चदशिका।

इनमें से 'अनुत्तराष्टिका', 'परमार्थद्वादशिका', 'परमार्थचर्चा' तथा महोपदेशविंशतिकम्' संज्ञक ४ कृतियाँ त्रिकशैवमत के प्रचारहेतु लिखी गई हैं। विश्व परमतत्त्व से भिन्न नहीं है, इस तथ्य का प्रतिपादन इन कृतियों में किया गया है। उसी परम तत्त्व को 'अनुत्तराष्टिका में 'अनुत्तर'[1], परमार्थद्वादशिका में परमार्थ ('वस्तु परमम्[2]'), परमार्थचर्चा में 'शिव'[3] तथा महोपदेशविंशतिकम् में 'विश्वमूर्ति'[4] कहा गया है। अनुत्तराष्टिका में ८ श्लोक, परमार्थद्वादशिका में १३, परमार्थचर्चा में ८ तथा महोपदेशविंशतिकम् में २० श्लोक हैं। यहाँ विषयप्रतिपादन के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए महोपदेशविंशतिकम् से कतिपय श्लोक प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

'अन्तर्देहे मया नित्यं त्वमात्मा च गवेषितः।
न दृष्टस्त्वं न चैवात्मा यच्च दृष्टं त्वमेव तत्।।'

(श्लोकसंख्या- ३)

'भगवद्भक्तस्य संजातभवद्रूपस्य मेऽधुना।
त्वामात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः।।'

(श्लोकसंख्या- ४)

'त्वत्स्वरूपे जृम्भमाणे त्वं चाहं चाखिलं जगत्।
जाते तस्य तिरोधाने न त्वं नाहं न वै जगत्।।'

(श्लोकसंख्या- ९)

स्तोत्रों की संख्या ५ है। वे हैं- 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तव', 'देहस्थदेवताचक्र', 'अनुभवनिवेदन' और 'रहस्यपञ्चदशिका'।

---

१. **'पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथानुत्तरे'** (श्लोकसंख्या- ३)
२. **'तच्छून्यं शिवधाम वस्तु परमं ब्रह्मात्र कोऽर्थग्रहः'** (श्लोकसंख्या- १)
३. **'इत्थं स्वसंविद्धन एक एव शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः'** (श्लोकसंख्या- ३)
४. **'प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये।'** (श्लोकसंख्या- १)

क्रमस्तोत्र में श्लोकों की संख्या ३० है। इसमें शिव के साथ एकात्मता की प्राप्ति के लिए 'शिवनति' को प्रथम उपाय बतलाया गया है-

'शिवैकात्म्यप्राप्तौ शिवनतिरुपायः प्रथमकः[१]'

अन्तिम श्लोक में इस कृति का रचनाकाल कवि ने स्वयं लिखा है-

'षट्षष्ठिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि।
मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः।।'

भैरवस्तोत्र' में १० श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में भैरव को चिन्मय अनादि अनन्त एवं अनाथों की शरण बतलाते हुए वन्दना प्रस्तुत की गई है-

'व्याप्तचराचरभावविशेषं
चिन्मयमेकमनन्तमनादिम्।
भैरवनाथमनाथशरण्यं
त्वन्मयचित्ततया हृदि वन्दे।।'

भैरव के माध्यम से (ऐक्य से) सभी से अपना ऐक्य है, संसार से भय होने का प्रश्न ही नहीं है। कहा जाता है कि अन्तिम समय में अभिनवगुप्त इसी स्तोत्र को पढ़ते हुए भैरवगुफा में घुसे थे। अन्तिम श्लोक में इस स्तुति का समय भी स्तुतिकार ने दिया है-

'वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत्'

'देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र' में कुल १५ श्लोक हैं। इसमें गणपति, बटुक, भैरव, सद्गुरु, आनन्दभैरवी, ब्रह्माणी, अम्बा शाम्भवी, कौमारी, वैष्णवी शक्ति, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा, महालक्ष्मी, क्षेत्रपति (आत्मा), इन सभी देहस्थ देवताओं की वन्दना की गई है जो शिवरूप होते हुए भी पशुरूप को प्राप्त होकर शरीर में स्थित है-

'नौमि सदोदितमित्थं निजदेहगदेवताचक्रम्'

(श्लोकसंख्या- १५)

'अनुभवनिवेदन' में कुल ४ ही श्लोक हैं। इसमें योग के अन्तर्गत शाम्भवी मुद्रा, ध्यान, मन्त्र आदि के उल्लेख के साथ शैवमत की पुष्टि की गई है। इसे निःसन्देह रूप में अभिनवगुप्त की कृति कहना कठिन है। अन्तिम श्लोक इस प्रकार है-

'मन्त्रः स प्रतिभाति वर्णरचना यस्मिन्नसंलक्ष्यते
मुद्रा सा समुदेति यत्र गलिता कृत्स्ना क्रिया कायिकी।
योगः स प्रयते यतः प्रवहणं प्राणस्य संक्षीयते।
त्वद्धामाधिगमोत्सवेषु सुधियां किं किं न नामाद्भुतम्।।'

---

१. श्लोकसंख्या- ६

'रहस्यपञ्चदशिका' में जैसा कि इसका नाम है १५ श्लोक होने चाहिये किन्तु जो पाण्डुलिपि डॉ० पाण्डेय को प्राप्त हुई है उसमें ३७ श्लोक हैं[१]। अन्त के श्लोक में अभिनवगुप्त द्वारा १५ श्लोकों के लिखे जाने की सूचना मिलती है-

'पूर्वसिद्धान् गुरून् देवान् देवीं नत्वा च योगिनः।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः।।'

इसमें उमा, रमा, सरस्वती को एक परादेवता माना गया है। इन्हें शिव की वल्लभा कहा गया है-

प्रसीद सर्वमङ्गले शिवे शिवस्य वल्लभे।
उमे रमे सरस्वति त्वमेव देवता परा।।'

(श्लोकसंख्या- ६)

इसमें पौराणिक पात्रों को शैवदर्शन के दार्शनिक तत्त्व के रूप में चित्रित किया गया है। 'शिवविभूति का विवेचन', 'भाषा का प्रभाव' आदि का सन्निवेश इसमें किया गया है।

अन्य कृतियाँ- बहुत सी ऐसी कृतियों का विविध ग्रन्थों में उल्लेख है जिन्हें अभिनवगुप्तकृत बतलाया गया है किन्तु वे कृतियाँ प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए ऐसी कृतियाँ हैं- पुरूरवोविचार, क्रमकेलि, शिवदृष्ट्यालोचन, पूर्वपञ्चिका, पदार्थ-प्रवेशनिर्णयटीका, प्रकीर्णकविवरण, प्रकरणविवरण, काव्यकौतुकविवरण, कथामुखतिलक, लघ्वीप्रक्रिया, भेदवादविदारण, देवीस्तोत्रविवरण, तत्त्वाध्वप्रकाशिका आदि।

इनके अतिरिक्त पुस्तकों की बहुत सी पञ्जिकाओं (Catalogues) एवं अनुसन्धान-सम्बन्धी आख्याओं में कतिपय कृतियों को अभिनवगुप्तकृत बतलाया गया है, जैसे बिम्बप्रतिबिम्बवाद, परमार्थसंग्रह आदि।

(५) **क्षेमराज** (११वीं शताब्दी ईसवी)- अभिनवगुप्त ने प्रमुख शिष्य क्षेमराज ने शैवदर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं[२] जिनमें कतिपय मौलिक तथा अन्य टीका ग्रन्थ हैं। यहाँ केवल एक ग्रन्थ 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' का परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

प्रत्यभिज्ञाहृदय- प्रत्यभिज्ञादर्शन को सरलता से समझाने के लिए क्षेमराज ने

---

१. 'Abhinavagupta : An Historial and Philosophical study' pp- 74-75

२. डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी ने १७ ग्रन्थों की सूची इस प्रकार दी है- उद्योत (स्वच्छन्दतन्त्र की टीका), उद्योत (नेत्रतन्त्र की टीका), स्पन्दसंदोह, प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दनिर्णय, विज्ञानभैरवोद्योत, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्तवचिन्तामणिविवृति, पराप्रावेशिका, साम्बपञ्चाशिका-विवृति, क्रमसूत्रटीका, स्तोत्र, भैरवानुकरणस्तोत्र, परमार्थसंग्रहवृत्ति, परमेशस्तोत्रावलीवृत्ति, उत्पलस्तोत्रावलीटीका, तत्त्वसंदोह (हिन्दीप्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ३२)

'प्रत्यभिज्ञाहृदय' ग्रन्थ की रचना की, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है-

'इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषित-पारमेश्वरसमावेशाभिलाषिण कतिचित् भक्तिभाजः तेषाम् ईश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते'

(प्रत्यभिज्ञाहृदय- प्रस्तावना)

डॉ० जयदेव सिंह ने ठीक ही कहा है कि ''इस ग्रन्थ का प्रत्यभिज्ञादर्शन में वहीं स्थान है जो स्थान वेदान्तदर्शन को समझाने के लिए 'वेदान्तसार' का है''[१] क्षेमराज ने अनेक टीका ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें प्रमुख हैं- शिवसूत्रविमर्शिनी, स्पन्दसंदोह, स्पन्दनिर्णय, विज्ञानभैरव-'उद्योत', स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत, नेत्रतन्त्रोद्योत आदि।

(६) **भास्कर कण्ठ एवं अन्य आचार्य-** अभिनवगुप्त की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' पर 'भास्करी' टीका के निर्माता भास्करकण्ठ हैं। यह टीका विमर्शिनी के बोध के लिए अत्यन्त उपादेय है। इनकी दूसरी कृति योगवासिष्ठ की व्याख्या है जो आंशिक ही प्राप्त होती है। इनका समय १८वीं शताब्दी ईसा का उत्तरार्ध है।

अभिनवगुप्त के परवर्ती अन्य आचार्यों में ११वीं शताब्दी के वरदराज ने 'शिवसूत्रवार्तिक', ११वीं शताब्दी के ही योगराजराजानक ने अभिनवगुप्त की परमार्थसार पर 'विवृति' तथा १२वीं शताब्दी के जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' लिखा। ध्यान रहे 'तन्त्रालोक' स्वयं में एक विश्वकोश है जिसमें शैवों के कर्मकाण्ड, योग, धर्म, उपासना, दर्शन आदि सबका विस्तृत विवेचन किया गया है। इससे 'विवृति' के महत्त्व का आकलन किया जा सकता है।

शैवों के अन्य सम्प्रदायों का विवेचन विस्तारभिया यहाँ नहीं किया जा रहा है। जिज्ञासुजन उसे अन्यत्र देखने का कष्ट करेंगे।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के तत्त्व

इस दर्शन में ३६ तत्त्व मान्य हैं। मूल परमार्थ तत्त्व 'शिव' है। इसी से परवर्ती ३५ तत्त्व आविर्भूत होते हैं। परमार्थतः शिव से परे कुछ भी नहीं है।

(१) **शिव-** यही तत्त्व प्रमुख है, अद्वैत है। शेष सभी तत्त्व इसी से आविर्भूत इसी का रूप हैं। इसे 'परमशिव' 'परेश' आदि कहते हैं। यहाँ 'अहम्' का परामर्श होता है। अभी देश-काल, इदन्ता आदि सङ्कोच नहीं है।

(२) **शक्ति-** यह है शिव की 'शक्ति'। 'शिव' एवं 'शक्ति' दोनों एक हैं- शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद है। शिव से अन्य तत्त्वों का आविर्भाव शक्ति के कारण ही होता

१. प्रस्तावना (प्रत्यभिज्ञाहृदय- हिन्दी अनुवाद ..... आदि)

है। इसके चिति, परावाक्, स्वातन्त्र्य आदि अनेक नाम हैं।

(३) **सदाशिव** (सादाख्य तत्त्व)- इस अवस्था में सत्-सत्ता का भाव होता है इसलिए इसे 'सदाशिव' या सादाख्य' तत्त्व कहते हैं। यहाँ परामर्श होता है 'अहमिदम्' (मैं यह-विश्व हूँ।)। ध्यान रहे यहाँ का विश्व अहंता से आच्छादित इदन्तारूप होता है अर्थात् प्रधानता 'अहम्' की होती है और 'इदम्'-रूप विश्व 'अहम्' के ही अन्तर्गत भाक्तरूप में रहता है, प्रधानता अहन्ता की रहती है- **सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितेदन्तामयं विश्वम्'**। लौकिक उदाहरण के रूप में किसी अकठोरगर्भा स्त्री को लिया जा सकता है जो किञ्चिद्दोलायमान गर्भ में इदन्ता का भाव रखते हुये भी अभी उसका 'अहम्' के रूप में ही परामर्श करती है। इसी प्रकार विश्व भी अभी स्फुट (स्पष्ट) नहीं है अर्थात् अभी विश्व में इदन्ता परिपुष्ट नहीं है, अपितु अहन्ता का ही साम्राज्य है जिसमें विश्व की गौणत्वेन इदन्तया स्थिति है।

(४) **ईश्वर-** यहाँ प्रमेय अधिक स्पष्ट हो जाता है, परामर्श होता है 'इदम् अहम्' और प्राधान्य ज्ञान का रहता है।

(५) **सद्विद्या** (शुद्ध विद्या तत्त्व)- 'अहम्' और 'इदम्' का परामर्श समान होता है- तराजू के दोनों पलड़ों के समान (समाधृततुलापुटन्यायेन) 'अहम् इदम्' 'इदम् अहम्'।

माया के सम्पर्क से अशुद्धाध्वा

(६) **माया**[१]- माया वह (तत्त्व) है जो 'शिव' के स्वरूप को सीमित-परिमित कर देती है और इस प्रकार वह स्वरूपगोपन का कार्य करती है अर्थात् 'माया' का अर्थ है जो शिव को विश्व के रूप में सङ्कुचित करती है, माप करके (नाप करके) - (माति सङ्कोचयति इति माया)। स्वरूपसङ्कोच से भेद उत्पन्न होता है।

माया का प्रभाव- माया के ५ कञ्चुक हैं जिनके कारण अपरिच्छिन्न अथ च अपरिमित तत्त्व आच्छादित हो जाता है (सीमित अर्थात् सङ्कुचित हो जाता है)। ऐसी स्थिति में ईश अनेकधा विभक्त होता हुआ अनेकरूप से सङ्कुचित हो जाता है। फलत; उसके ऐश्वर्य का लोप हो जाता है जैसा कि आगे तत्त्व संख्या ७-११ में दिखलाया जा रहा है। माया के प्रतिपादयिष्यमाण पाँच कञ्चुक (आच्छादन) हैं-

'कला', 'विद्या', 'राग', 'काल' और 'नियति'।

---

१. (i) माया के सम्पर्क से 'अशुद्धाध्वा' समझना चाहिये।

(ii) तत्त्व संख्या १ से ५ में तत्त्वों का अनुभव अपरिमित होता है सीमित या सङ्कुचित नहीं, जबकि बाद के तत्त्व माया के अवतार के साथ ही सङ्कुचितरूप में अनुभूत होते हैं।

(७) **कला**- कला के द्वारा कर्तृत्व का सङ्कोच होता है, फलतः शिव का स्वातन्त्र्य सीमित हो जाता है और वह कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ नहीं रहता- जो चाहे वह नहीं कर सकता। उसमें किञ्चित्कर्तृत्व आ जाता है सर्वकर्तृत्व के स्थान पर।

(८) **विद्या**- 'विद्या' संज्ञक कञ्चुक के द्वारा ईश का सर्वज्ञत्व सिमटकर किञ्चिज्ज्ञत्व के रूप में रह जाता है। इसी के कारण जीव के ज्ञान की सीमायें बन जाती हैं, वह सर्वज्ञ नहीं रहता। उसके सर्वज्ञतत्व का गोपन हो जाता है, उसका सर्वज्ञत्व आच्छादित हो जाता है।

(९) **राग**- 'राग' नामक कञ्चुक से पूर्णतृप्त परमेश्वर की पूर्णतृप्ति आच्छन्न हो जाती है और इस प्रकार तृप्ति सीमित हो जाती है। फलतः जीव भोगादि में आसक्त हो जाता है। अब वह सदा तृप्त, अनपेक्ष, पूर्णानन्दरूप नहीं रहता।

(१०) **काल**- 'काल' कञ्चुक के द्वारा परमेश का नित्यत्व सङ्कुचित होकर भूत, वर्तमान, एवं भविष्यत् आदि टुकड़ों में बट जाता है। जीव इसी कारण जनन-मरण की लपेट में आ जाता है।

(११) **नियति**- इससे परेश का स्वातन्त्र्य सङ्कुचित हो जाता है। फलतः वह प्रकृतिपरतन्त्र हो जाता है- कारणपरतन्त्र हो जाता है अर्थात् जीव प्रकृति के नियमों में जकड़ जाता है। इसी के प्रभाव में जीव का सम्बन्ध देश से- देशविशेष से होता है, उसका व्यापकत्वरूप ऐश्वर्य आच्छादित हो जाता है- सङ्कुचित हो जाता है।

(१२) **पुरुष** - इस प्रकार उक्त पञ्चधा कञ्चुकों के कारण शिव सङ्कुचित होकर अनेक जीवों (पुरुषों) का रूप धारण करता है। 'पुरुष' का अर्थ 'कोई भी जो शरीर धारण किये हो' (पुरि शेते इति पुरुषः) नियत देश-काल में रहने को विवश, प्रकृतिनियमपरवश सभी जीव ही 'पुरुष'-पदवाच्य हैं। पुरुष की अभिव्यक्ति सद्विद्या के अहमंश से होती है।

(१३) **प्रकृति** - तत्त्व संख्या ५ सद्विद्या के 'अहम्' अंश से पुरुष का उन्मेष एवं 'इदम्' अंश से प्रकृति का उन्मेष होता है। एक अंश वेदक (ज्ञाता), भोक्ता एवं अपर अंश वेद्य (ज्ञेय), भोग्य आदि के रूप में आविर्भूत होता है। ध्यान रहे यहाँ प्रत्येक पुरुष की अपनी-अपनी प्रकृति है। इस प्रकार जीव के समान प्रकृति भी अनन्त होंगी।

(१४) **बुद्धि**- यह निश्चयात्मिका होती है।

(१५) **अहङ्कार**- जिसके द्वारा 'अहम्' एवं 'मम' का बोध हो वह है अहंकार। यह बुद्धि से उद्भूत होता है। इस अहङ्कार के १५ परिणाम होते हैं (देखें संख्या १६ से ३१ तक)

(१६) **मनस्**- मन सङ्कल्प-विकल्प करता है। यह अहङ्कार से उद्भूत होता है। मन के अतिरिक्त अहङ्कार से ५ **ज्ञानेन्द्रियाँ** (संख्या १७-२१), ५ **कर्मेन्द्रियाँ** (संख्या

२२-२६) तथा ५ तन्मात्रायें (संख्या २७-३१) उद्‌भूत होती हैं।

(१७ **घ्राण** (ज्ञानेन्द्रिय)

(१८) **रसना** (ज्ञानेन्द्रिय)

(१९) **चक्षु** (ज्ञानेन्द्रिय)

(२०) **त्वक्** (ज्ञानेन्द्रिय)

(२१) **श्रोत्र** (ज्ञानेन्द्रिय०

(२२) **वाक्** (कर्मेन्द्रिय)

(२३) **पाणि** (कर्मेन्द्रिय)

(२४) **पाद** (कर्मेन्द्रिय)

(२५) **पायु** (कर्मेन्द्रिय)

(२६) **उपस्थ** (कर्मेन्द्रिय)

(२७) **गन्ध** (तन्मात्रा)

(२८) **रस** (तन्मात्रा)

(२९) **रूप** (तन्मात्रा)

(३०) **स्पर्श** (तन्मात्रा)

(३१) **शब्द** (तन्मात्रा)

इन तन्मात्राओं से क्रमशः जो भूत अर्थात् महाभूत आविर्भूत होते हैं, वे ये हैं-

(३२) पृथिवी (महाभूत) उदभूत होता है गन्ध से

(३३) अप् (महाभूत) उदभूत होता है रस से

(३४) तेज (महाभूत) उदभूत होता है रूप से

(३५) वायु (महाभूत) उदभूत होता है स्पर्श से

(३६) आकाश (महाभूत) उदभूत होता है शब्द से

उपसंहार- इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन का अभिमत यह है कि एक परमार्थभूत परेश ही जडचेतनात्मक विश्व है। इसी परमेश्वर से सब प्रकार की सृष्टि आविर्भूत होती है, और उसी में तिरोभूत भी होती है। वह (सृष्टि) तद्रूप है, अतः परेश से भिन्न कहीं कुछ भी नहीं। सब उसी का रूप है। अतः हम जीव भी परमेशरूप हैं। किन्तु हम अपने रूप को जानते नहीं- 'पहचानते' नहीं। पहचानते ही हम शिव हो जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे। यही प्रत्यभिज्ञादर्शन का रहस्य है।

ज्ञानाधिकार

(१)

प्रसंग- **'ननु बाधकं नाम.... कारिकया'** इतना अंश बाह्यार्थानुमानवादी बौद्धों (सौत्रान्तिकों[१]) का कथन है। सौत्रान्तिक मत के अनुसार हमें 'घट'-ज्ञान 'पट'-ज्ञान आदि होता है अत: हम अनुमान करते हैं कि बाह्य जगत् में 'घट' पदार्थ 'पट' पदार्थ आदि हैं, इत्यादि। चूँकि ज्ञान होता है अत: ज्ञान का विषय अवश्य रहता है, अन्यथा ज्ञान न होता। विविध ज्ञान होते हैं अत: विषयों में भी वैविध्य सिद्ध होता है। ये विषय मात्र ज्ञान के आकार नहीं माने जा सकते, अन्यथा विविध- घटपटात्मक नीलपीतात्मक-ज्ञान न होते। इस प्रकार सौत्रान्तिक मत में बाह्य पदार्थ की सत्ता अनुमानगम्य है। ये सौत्रान्तिक वैभाषिकों से यहाँ इस अंश में वैमत्य रखते हैं कि वैभाषिकों के अनुसार वस्तु की सत्ता का यथार्थज्ञान इन्द्रियों से ही हो जाता है अर्थात् वैभाषिक बौद्धों का मत है कि बाह्य अर्थ की सत्ता प्रत्यक्षगम्य है।

'ननु बाधके नाम...... कारिकया' इस अंश में 'प्रमाण' शब्द का अर्थ पूर्वपक्षी की दृष्टि में 'दृढ प्रमाण'- साधक प्रमाण है। एक दूसरा प्रमाण, जिससे पूर्वपक्षी (सौत्रान्तिक) के अभिमत का खण्डन होता है, (उस) के लिये यहाँ ('प्रमाण' शब्द का प्रयोग न करके) 'बाधकम्' 'बाधकाभिमत बाधित अप्रमाण[२] जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।

पूर्वपक्षी[३] के कथन का अभिप्राय यह है कि- जो प्रमाणसिद्ध वस्तु है (सौत्रान्तिक की दृष्टि में) उस (प्रमाणसिद्ध वस्तु) में बाधक (जिसे सौत्रान्तिक का खण्डन करने वाला सौत्रान्तिक मत का 'बाधक' मानता है, ऐसा बाधक माना गया प्रमाण) कुछ करने में समर्थ नहीं (हो सकता) है (उस प्रमाणसिद्ध वस्तु को अन्यथा नहीं सिद्ध कर सकता

---

१. **'नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः।**
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते।।' (सर्वसिद्धान्तसंग्रह)

२. **'बाधकाभिमतस्य बाधितस्य अप्रमाणत्वसंपादनात्'**

३. यहाँ पूर्वपक्षी का अर्थ **'सौत्रान्तिक'** है।

है)। यह इसलिये कि वह दृढ प्रमाण पूर्वपक्ष[1] के द्वारा सौत्रान्तिक मत के बाधक माने गये प्रमाण को 'अप्रमाण' रूप में 'सिद्ध कर देता है' क्योंकि सौत्रान्तिक के मत का बाध वह कर पाता नहीं, प्रत्युत दृढ प्रमाण से बाधित अवश्य हो जाता है। अर्थात् पूर्वपक्ष के द्वारा प्रस्तुत तथा कथित प्रमाण बाधक माना अवश्य जाता है किन्तु है वह वस्तुत: बाधित ही। और जो बाधित है वह 'अप्रमाण' हुआ ही। भला अप्रमाण से कोई वस्तु सिद्ध हो सकती है ? और वह वस्तु जो प्रमाण (सत्प्रमाण) से सिद्ध हुई रहती है।

यदि कोई सौत्रान्तिक से पूछे कि वह तुम्हारे द्वारा कथित दृढ प्रमाण कौन सा है ? उसका प्रतिपादन कहाँ किया गया है तो सौत्रान्तिक का उत्त होता है- **'तत्तदाकस्मिकामासो....'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/४) इत्यादि कारिका में प्रतिपादित है। सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'तत्तदाकस्मिकाभासो बाह्यं चेतदनुमापयेत्।
न ह्यभिन्नस्य बोधस्य विचित्राभासहेतुता।।'

(तत्तत् अज्ञातकारणक बोध बाह्य अर्थ का अनुमान तो करा नहीं सकते अद्वय- एक ही है अत: विविध आभासों का- (वस्तुओं एवं) उनके बोध का वह कारण नहीं हो सकता)।

'ननु बाधकं नाम..........कारिकया' इस अंश के द्वारा सौत्रान्तिक स्यात् अद्वय शिव तत्त्व को, समस्त वस्तु-समूह को प्रकाशित करने में, असमर्थ सिद्ध करने का प्रयास करे तो ऐसी आशङ्का करके (आशङ्क्य) उत्पलदेव सौत्रान्तिक एवं अन्य पूर्वपक्षियों के मतों का खण्डन करने के लिये एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पुष्टि करने के लिये कहते हैं (आह[2]) -

ननु बाधकं नाम प्रमाणसिदधे वस्तुनि न किञ्चित् कर्तुं समर्थम्- तेनैव दृढेन प्रमाणेन बाधकाभिमतस्य बाधितस्य अप्रमाणत्वसंपादनात्। दर्शितं च इह साधकं प्रमाणं कार्यहेतु; 'तत्तदाकस्मिकाभास' इति कारिकया इत्याशङ्क्य आह

'चिदात्मैव हि देवोऽन्त: स्थितमिच्छावशाद् बहि:
योगीव निरुपादनमर्थजातं प्रकाशयेत्।।७।।

अर्थ- "प्रमाण से सिद्ध वस्तु में 'बाधक' (प्रमाणसिद्ध वस्तु के स्वरूप के असिद्ध करने के लिये दिया गया कोई प्रमाण- युक्ति या हेतु) कुछ करने में समर्थ नहीं

---

१. पूर्वपक्ष = सौत्रान्तिक की दृष्टि में पूर्वपक्ष, सौत्रान्तिक का प्रतिपक्ष।
२. **'अर्थात् चिदात्मैव हि देवोऽन्त: स्थितम्....'** इस कारिका को प्रस्तुत करते हैं।

है (क्योंकि जो प्रमाणसिद्ध है उसका स्वरूप अन्यथा हो ही नहीं सकता है, उसके स्वरूप को असिद्ध करने वाला (बाधक) कोई हो ही नहीं सकता है। उसे भले ही 'बाधक' कहें, वस्तुतः वह कुछ (बाध) कर ही नहीं सकता है (**न किञ्चित् कर्तुं समर्थः**) क्योंकि उसी प्रबल प्रमाण (जिससे वस्तु के स्वरूप की सिद्धि हुई रहती है- **'प्रमाणसिद्धे वस्तुनि'** के अन्तर्गत 'प्रमाण') से बाधकरूप में इष्ट (किन्तु वस्तुतः जो बाधक न होकर) बाधित (है उस) की अप्रमाणिकता सिद्ध कर दी जाती है। 'तत्तदाकस्मिकाभास' इस कारिका के द्वारा दिखलाया गया है[1] कि साधक प्रमाण कार्य का हेतु है' ऐसी (पूर्वपक्ष की) आशङ्का करके (उत्तर) कहते हैं (आह[2])

चित्स्वरूप देव (सर्वात्मरूप शिव) योगी के समान इच्छामात्र से (ही) अपने भीतर वर्तमान (अथ च) उपादानशून्य अर्थसमूह को बाहर (बाह्यरूपेण) प्रकाशित करते हैं॥७॥

लीला- इस विभाग (संख्या १) का स्पष्टीकरण 'प्रसङ्ग' एवं 'अनुवाद' के द्वारा हो सकेगा। कारिका (१/५/७) का स्पष्टीकरण अग्रिम विभागों (संख्या २ एवं ३) में देखेंगे।

(२)

प्रसङ्ग - पिछले विभाग (संख्या १) में उल्लिखित कारिका (**'चिदात्मैव.....'** इत्यादि) के अर्थ का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त अपनी विमर्शिनी के द्वारा कर रहे हैं। प्रकृत कारिका की विमर्शिनी विभाग संख्या ३ में समाप्त होती है-

इह तावत् स्वप्न-स्मरण-मनोराज्य-संकल्पादिषु नीलाद्याभासवैचित्र्यं बाह्यसमर्पकहेतुव्यतिरेकेणैव निर्भासते इति यद्यपि अस्ति संभवः, तथापि तदाभास-वैचित्र्यं अस्थैर्यात् सर्वप्रमात्रसाधारण्यात् पूर्वानुभवसंस्कारजत्व-संभावनात् अवस्तु इति शङ्क्येत। यत् पुनरिदं योगिनाम् इच्छामात्रेण पुरसेनादिवैचित्र्यनिर्माणं दृष्टम्, तत्र उपादानं प्रसिद्धमृत्काष्ठ-शुक्रशोणितादि-

---

१. **दर्शितम् = मया पूर्वपक्षिरूपेण दर्शितम्। केन साधनेन दर्शितम् ? कारिकया 'तत्तदाकस्मिकाभास' इत्यादीत्यनया कारिकया दर्शितं मया।**

२. यद्यपि **'आह'** पद का अनुवाद है 'कहता है' (**आह** = '√ब्रू (परस्मैपद)+लट् लकार-प्रथम पुरुष-एकवचन) परन्तु हिन्दी में सम्मान-सूचनानिमित्त बहुवचन 'कहते हैं' किया गया है। हम कहते हैं 'पिता जी आते हैं' 'पिता कहते हैं', न कि 'पिता जी आता है' 'पिता जी कहता है', माना कि **'पिता गच्छति, पिता कथयति'** यहाँ संस्कृत में एकवचन ही है।

वैचित्र्यमयं न संभवत्येव, न हि एवं वक्तुं शक्यम्- सर्वगताः परमाणवो योगीच्छया झटिति संघटिताः कार्यम् आरप्स्यन्ते इति। यत एतत् लोकप्रसिद्धकारणभावानतिक्रमसिद्धये निरूप्यते। न च एतत् प्रसिद्धम्- परमाणुभ्य एव स्थूलं घटादि जायते इति, किं तु कपालादिव्यवधानेन, तत्रापि नियतसहकारिसमवलम्बनम् करचरणादिव्यापारो विशिष्टदेशकाल-धर्माधिपत्ययोगः शिक्षाभ्यासप्रकर्ष इति, इयति च आश्रीयमाणे योगी कुम्भं निर्मिमाण; कुम्भकारप्रसिद्धसमस्त-सामग्रीसमर्जनपुरःसरं घटं घटयन् कुम्भकार एव स्यात्, तस्मात् प्रसिद्ध-कारणोल्लङ्घने किम् असंचेत्य-मानपरमाण्वाद्युपादानकारणान्तरचिन्तया इति।

अर्थ - यहाँ स्वप्न, स्मरण, मनोराज्य तथा संकल्प आदि स्थलों में जो नील (पीत.....) आदि आभास (प्रकाश, बोध) का वैचित्र्य-वैविध्य है यह यद्यपि बाह्यसमर्पक (आकारदायक) हेतु (नील-पीत आदि) के बिना ही प्रतीत हो (ता है), यह संभव है तथापि उस स्वप्न आदि में (स्थित) आभास) का वैचित्र्य (वैविध्य)- (१) (आभासों के) स्थिर न रहने के कारण, (२) सभी प्रमाताओं के लिए समान न होने के कारण, (३) इस सम्भावना से कि पूर्व संस्कार से उत्पन्न हुये हों- अवस्तु (अयथार्थ) है ऐसी शङ्का (अनधिगतप्रत्यभिज्ञाशास्त्रतत्त्व व्यक्ति) कर सकता है। किन्तु योगियों की इच्छामात्र से जो यह पुर (नगर) तथा सेना आदि विचित्र निर्माण देखा गया है वहाँ प्रसिद्ध (लौकिक) विविध मिट्टी-लकड़ी तथा शुक्र-शोणित आदि उपादान संभव नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सर्वत्र विद्यमान परमाणु योगी की इच्छा से अविलम्बेन संहत होकर कार्य आरम्भ कर देंगे। चूँकि यह (**उपर्युक्त 'सर्वगता; परमाणवः...... आरप्स्यन्ते इति'**) लोकप्रसिद्ध कारणभाव के अतिक्रमण के न होने की सिद्धि के निमित्त आपके द्वारा प्रतिपादित कियाजा रहा है। और यह प्रसिद्ध नहीं है कि परमाणुओं से ही स्थूल घट आदि उत्पन्न होता है किन्तु कपाल आदि के माध्यम से (घट उत्पन्न होता है), वहाँ भी (१) नियत सहकारी (कारण) का आश्रय (२) हाथ पैर आदि की क्रिया (३) विशिष्ट देश, काल एवं धर्म के प्रभाव का योग तथा (घट-निर्माण की) शिक्षा एवं अभ्यास (पौनः पुन्येन घट-निर्माण) की उत्कृष्टता (ये भी घटनिर्माण में अनिवार्य हैं)। इतने (उपर्युक्त घटनिर्माण की कारण सामग्री) का आश्रय लेने पर घट का निर्माण कर रहा योगी (जो कि) कुम्भकार (के द्वारा घट-निर्माण में उस) के लिये (अपेक्षित) प्रसिद्ध (लोकप्रसिद्ध) समस्त सामग्री को ग्रहण करके घट को तैयार कर रहा हो, कुम्भकार ही हो जायेगा, अतः (योगी के द्वारा) लोकप्रसिद्ध कारण का उल्लङ्घन कर दिये जाने पर (योगीद्वारा प्रयुक्त

कारणों का ज्ञान न हो सकने की स्थिति में) परमाणु आदि के उपादानकारणत्व का विचार करने से क्या लाभ जिस (परमाणु आदि के उपादानकारणत्व) में प्रमाण (प्रस्तुत करने) की संभावना नहीं।

***लीला* - स्वप्न** = स्वप्नदृष्ट विषय यथा नील[1]पट, रक्तपट आदि का ज्ञान होता है। ये विषय विविध प्रकार के होते हैं- प्राय: वे सभी होते हैं जो जाग्रदवस्था में प्रत्यक्षविषय होते हैं। किन्तु जाग्रदवस्था के विषयों में तथा स्वाप्न विषयों में अनेक अन्तर होते हैं-

(i) प्रत्यक्षभूत विषय यथा पुर (नगर) तथा सेना को जो आकार प्राप्त होता है उसका कारण लोकप्रसिद्ध होता है, यथा पुर का निर्माण मिट्टी-लकड़ी आदि (मृत्काष्ठादि) तथा सेना का निर्माण शुक्रशोणितादि[2] से होता है। इस प्रकार लोक (जाग्रदवस्था) के पदार्थों को जो आकार प्राप्त होता है उस (आकार) के समर्पक (देनेवाले) अर्थात् आकार के कारणभूत पदार्थ (यथा, मृत्काष्ठ-शुक्रशोणित आदि) बाह्यजगत् में होते ही हैं। किन्तु स्वप्नविषयभूत नगर-सेना आदि को आकार देने वाले (यथा- मृत्काष्ठ एवं शुक्रशोणित आदि) नहीं हो सकते- बाह्य पदार्थ नहीं हो सकते । हम स्वप्न में जो नगर को या मनुष्य को देखते हैं वे लौकिककारणजन्य नहीं हैं तथापि स्वप्न में पुर-सेना विषय बनता है। **प्रश्न** है कि इनका कारण कैसा होता है? क्या होता है ? **उत्तर** है 'इनका कारण आन्तर होता है'। स्वप्नकाल में स्वप्नद्रष्टा ही अपने द्वारा रचित पुन-सेना को देखता है। इस प्रकार स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त वहाँ कोई बाह्य कारण नहीं है अपितु आन्तर कारण है। स्वप्नकाल में स्वप्नद्रष्टा अपने द्वारा रचित अपने को ही- स्वयं को ही देखता है। स्वप्नदृष्ट अर्थ स्वप्न देख रहे व्यक्ति से भिन्न नहीं।

(ii) **अस्थैर्य** - स्वप्न का विषय पुर-सेना आदि स्थिर नहीं रहता- आँख खोली कि स्वप्नविषय सदा-सदा के लिए विलीन हो जाते हैं और हम अनुभव करते हैं कि जैसे वे वस्तुत: थे ही नहीं, जैसे बाह्यजगत् के विषय स्थिर होते हैं वैसे नहीं होते। वे तावत्काल में अनुभूत होते हैं मात्र। बाह्यजगत् के विषय अपेक्षाकृत स्थिर होते हैं। स्वप्न के विषय जैसे 'पानी पर खींची गई रेखा' के समान अस्थिर और जाग्रदवस्था के विषय पत्थर पर उत्कीर्ण रेखा के समान अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होते हैं।

---

१. दर्शन में एतादृश स्थलों पर प्राय: 'नील' को विषयरूप में इसलिए प्रस्तुत किया जाता है कि इससे स्पष्टता अधिक रहती है। हल्के पीत-श्वेत आदि रूपों के विषय में भ्रान्ति की अधिक संभावना रहती है जबकि नील (नीला, काला) के विषय में भ्रान्ति की संभावना कम होकर स्पष्टता अधिक होती है।

२. सेना है सैनिकों का समूह। किसी सैनिक की उत्पत्ति का कारण उसके पिता का शुक्र एवं उसकी माता का शोणित (रक्त) होता है।

(iii) **सर्वप्रमात्रसाधारण्य- (सर्व+प्रभातृ+असाधारण्य)** = स्वप्न का विषय अपना-अपना होता है अर्थात् स्वप्न में देवदत्त के द्वारा देखे गये पुर-सेना का देवदत के अतिरिक्त यज्ञदत्त आदि कोई भी नहीं देखता है जबकि जाग्रदवस्था के पुर-सेना को सभी प्रमाता देखते हैं। स्वप्न का विषय सर्वसाधारण न होकर वैयक्तिक होता है (असाधारण्यात्) जबकि जाग्रदवस्था का विषय सर्वसाधारण होता है।

(iv) **पूर्वानुभवसंस्कारजत्वसंभावन-** ऐसी युक्ति भी सम्भव है कि पहले के अनुभूत विषयों के संस्कार आत्मा में विद्यमान रहते हैं। वही संस्कार स्वप्न के विषयों के उद्भव का कारण होते हैं। अर्थात् स्वप्नोद्भूत विषयों को संस्कारजन्य माना जा सकता है जबकि जाग्रदवस्था के विषयों की उत्पत्ति का कारण नि:सन्देह बाह्य पदार्थ होते हैं।

स्वप्न के विषय विचित्र होते हैं- जाग्रदवस्था के विषयों से सर्वथा भिन्न होते हैं- अस्थिर, सर्वप्रभात्रसाधारण होते हैं तथा संस्कारजन्य हो सकते हैं अत: कोई व्यक्ति शङ्का कर सकता है कि वास्तव में स्वाप्न पदार्थों की सत्ता ही नहीं होती।

जैसे स्वप्न में नीलाद्याभासवैचित्र्य होता है और उसे अस्थैर्य, सर्वप्रमात्रसाधारण्य, पूर्वानुभवसंस्कारजत्वसंभावन के कारण कोई अवस्तु मानने की शङ्का कर सकता है, वैसी ही स्थिति 'स्मरण' 'मनोराज्य' एवं 'संकल्प' के विषय में है।

स्मरण - स्मरण का विषय भी स्मर्ता से भिन्न नहीं होता-' बाह्यजगत् में नहीं होता। **मनोराज्य**- निरङ्कुश निरर्गल होकर मन के अभिलक्षित विषय के अनुसार सोत्साह चिन्तन जिससे यथेच्छ सुख का आभास हो। मनोराज्य का विषय भी बाह्यजगत् में नहीं है। **सङ्कल्प**- कोई भी कल्पना हो उसका विषय कल्पक से भिन्न नहीं होता- यथा, काव्यकल्पना का विषय- **'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।'**

जैसा कि अभी विवेचन किया जा चुका है कि स्वप्न आदि के विषय स्वप्नद्रष्टा आदि के द्वारा स्वयं ही निर्मित किये जाते हैं। वे विषय बाह्य जगत् के नहीं होते[१]-

---

१. (i) वस्तुत: जो अर्थ भीतर होता है वही बाह्यरूप में प्रकाशित होता है। जो भीतर है उसे (ही) बाहर लाया जा सकता है-

'अन्त:स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-१/५/१)

(ii) **'यथा न्यग्रोधबीजस्थ: शक्तिरूपो महाद्रुम:।**

तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।। (पराप्रावेशिका में उद्धत)

(iii) जो भी जड या चेतन है वह शिवरूप है-

'योऽहं नमस्करोमि स शिवोऽस्मद्रूपेणैक्यं प्राप्त:। वस्तुस्थित्या हि सर्वतत्त्वविग्रहो वक्ष्यमाणनीत्या शिव:......... समाविशति इत्युच्यते।' (शिवदृष्टि पर उत्पलवृत्ति, पृष्ठ २)

बाह्यजगत् में नहीं होते- द्रष्टा से भिन्न नहीं होते[१]। अब योगी के द्वारा सृष्ट विषयों के स्वरूप पर विचार किया जाये। योगी केवल अपनी इच्छा से ही पुर-सेना आदि का निर्माण कर देता है। तथापि ध्यान रहे पूर्वपक्ष की दृष्टि में योगिनिर्मित पुर-सेना का उपादान कारण लौकिक मृत्काष्ठ एवं शुक्र-शोणित आदि होता है।

शङ्का - कोई शङ्कालु शङ्का कर सकता है कि योगी की इच्छा से लौकिक परमाणुओं में संयोग उत्पन्न होता है। परमाणु दुर्लभ भी नहीं हैं। पार्थिव आदि परमाणु लोक में प्रायः सर्वत्र ही बिखरे हुये हैं। इस प्रकार ये लौकिक परमाणु ही योगिनिर्मित वस्तुओं का उपादान कारण हैं। वस्तुतः लोक में कार्यकारण नियम का उल्लङ्घन नहीं होता। यथा नगर का उपादानकारण मृत्-काष्ठ आदि सर्वत्र पाया जाता है। अतः योगिनिर्मित वस्तुओं के विषय में भी लोकप्रसिद्ध कारणभाव (कारण होने) का अतिक्रमण न होकर अनतिक्रमण की सिद्धि होगी, यदि लौकिक परमाणुओं को ही योगिनिर्मित वस्तुओं का उपादान मान लिया जाये।

समाधान- योगी की इच्छा से परमाणुओं द्वारा संघटित होकर कार्य आरम्भ कर दिया जाता है[२], ऐसी मान्यता आपकी इसलिये ही तो है कि लौकिक कार्यकारणभाव नियम की रक्षा होगी- उसका अतिक्रमण नहीं होगा। किन्तु ध्यान रहे लौकिक कार्यकारणभाव में यह नियम नहीं है (**न च एतत् प्रसिद्धम्**) कि परमाणु से ही स्थूल घट आदि कार्य उत्पन्न होता है। कथन का अभिप्राय यह है कि परमाणु के संयोगमात्र से ही (परमाणुपुञ्ज से ही- बिना महत्त्वगुण उत्पन्न हुये ही) घट नहीं बन जाता, अपितु परमाणुओं से कपाल आदि[३] बनता है फिर उनसे घट। इसका अर्थ यही हुआ कि परमाणुओं से ही (अर्थात् सीधे परमाणुओं से ही) घट नहीं बनता। इतना ही नहीं कि घट कार्य की उत्पत्ति द्व्यणुक, त्र्यणुक....कपाल आदि के व्यवधान से होती है अपितु कार्यविशेष के लिये सहकारिकारणविशेष[४] (यथा, घटनिर्माण में सहकारी कारण दण्ड, चक्र आदि) का भी अवलम्बन आवश्यक है, घट बनाने के लिऐ हाथ तथा पैरों को भी सक्रिय करना होता है। कार्य देशविशेष एवं कालविशेष में होता है अतः देश-काल का भी आश्रय लिया जाता है। इसके अतिरिक्त जीवों का धर्म (एवं अधर्म[५]), घटनिर्माता को प्राप्त घट निर्माण की शिक्षा एवं घटनिर्माण

---

१. देखें- **'यथा हि पुरुषस्य इच्छावस्थायाम् इष्यमाणः पदार्थः स्वरूपाव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते, तथा भगवतः शक्तौ अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् मनागपि अनुपजातविशेषात् स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते'**। (विवृति- स्पन्दकारिका- १/१, पृष्ठ ५)

२. **'परमाणवो योगीच्छया झटिति संघटिताः कार्यमारप्स्यन्ते इति'**- = **एतत्** = 'परमाणु योगी की इच्छा से संघटित होकर कार्य आरम्भ करते हैं' यह (**एतत्**)।

३. न्याय के अनुसार परमाणुओं से द्व्यगुणक, त्र्यणुकादि (महत्त्वयुक्त) क्रम से कपाल एवं कपालसंयोग से घट (कार्य) की उत्पत्ति होती है।

४. सहकारी कारण = निमित्तकारण

५. **'........उपलक्षणं चैतदधर्मस्यापि तार्किकमते धर्माधर्मयोरपि सहकारित्वमेवेति'** (भास्करी, पृष्ठ २२७)

क्रिया में अभ्यास का वैशिष्ट्य (अच्छी शिक्षा एवं अभ्यास) भी कारण बनता है। यदि योगी इतनी[1] कारणसामग्री के द्वारा घट का निर्माण करता है तो वह योगी कहाँ रहा ? वह तो कुम्भकार ही हो गया। इसलिये लोकप्रसिद्ध कारण का उल्लङ्घन न हो जाये इसलिये यहाँ परमाणु आदि को उपादान कारण मान लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है क्यों ऐसा मान लेना असम्भव है (**असंचेत्यमानम् = असम्भाव्यमानम्**)। अत: उक्त शङ्का युक्तियुक्त नहीं है।

(३)

प्रसङ्ग - व्याख्यायमान कारिका **'चिदात्मैव हि'** इत्यादि की अवशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है-

तत्र योगिसंविद एव सा तादृशी शक्तिः— यत् आभासवैचित्र्यरूपम् अर्थजातं प्रकाशयति इति। तत् अस्ति संभवः- यत् संवित् एव अभ्युपगतस्वातन्त्र्या अप्रतीघातलक्षणात् इच्छाविशेषवशात् संविदोऽनधिकात्मताया अनपायात् अन्तःस्थितमेव सत् भावजातम् इदमित्येवं प्राणबुद्धिदेहादेः वितीर्णकियन्मात्रसंविद्रूपात् बाह्यत्वेन आभासयति इति, तत् इह विश्वरूपाभासवैचित्र्ये चिदात्मन एव स्वातन्त्र्यं किं न अभ्युपगम्यते स्वसंवेदनसिद्धम्, किमिति हेत्वन्तरपर्येषणाप्रयासेन खिद्यते। एवकारेण इदमाह- सर्वेण तावत् वादिना विषयव्यवस्थापनं संविद्रूपम् अनपह्नवनीयम् आदिसिद्धं हि तत् इति उक्तम्। तस्य च स्वातन्त्र्यमेव देवशब्दनिर्दिष्टं चिद्रूपत्वम्, इति किम् अपरकारणान्वेषणव्यसनितया। हि यस्मात् एवं प्रकाशयति देव इति संभाव्यते, तस्मात् किं बाह्येन अनुपपत्तिना, इति पूर्वेण संबन्धः।।७।।

अर्थ- वहाँ योगी के संवित् (चैतन्य) की ही वह ऐसी शक्ति होती है जो कि विविध आभासरूप वस्तुसमूह का प्रकाशन करती है। तो यह संभव है कि जिसके स्वातन्त्र्य (सर्वशक्तिमत्ता) को स्वीकार कर लिया गया है ऐसी संवित्[2] (चैतन्य) कभी प्रतिहत (खण्डित) न होने वाली अपनी इच्छाविशेष से संवित् के ऐक्य[3] से कभी च्युत न होने वाले अन्त:स्थित तत्त्वसमूह को 'यह' इस प्रकार कुछ संवित् प्राप्त किये हुये

---

१. इतनी जितनी कि कुम्भकार को घट-निर्माण के लिए आवश्यक होती है।

२. स्वरूपभूत, संवितत्त्व

३. **'अनधिकात्मतायाः एकतायाः'** (भास्करी, पृष्ठ २२८)

प्राण, बुद्धि एवं देह आदि से बाह्यरूप में यतः प्रकाशित करती है अतः विश्व के विविध आभास में समर्थ चिदात्मा के स्वातन्त्र्य को क्यों (हेतु रूप में) स्वीकार नहीं कर लेते जो कि स्वकीय संवेदन से सिद्ध है, अन्य हेतु के अन्वेषण के प्रयास से क्यों खेद का अनुभव करते हैं ? (**'चिदात्मैव'** यहाँ) **'एव'** शब्दसे यह कहते हैं कि सभी वादियों (शास्त्रज्ञों, दार्शनिकों) के द्वारा कहा गया है (**सर्वेण वादिना इति उक्तम्**) कि संवित् विषय की व्यवस्था का हेतु है जो स्पष्ट एवं 'पहले से ही सिद्ध' (**स्वतःसिद्ध**) है और 'देव' (**'देवोऽन्तःस्थितम्'** में श्रुत **'देव'** शब्द) के द्वारा उस संविद्रूप के स्वातन्त्र्य को ही कहा गया है (**तस्य स्वातन्त्र्यम् = तस्य चिद्रूपत्वम्**)। अतः अन्य कारण के अन्वेषण में रुचि लेने से क्या लाभ। 'हि' अर्थात् यस्मात् (**यतः**) इस प्रकार प्रकाशित करते हैं 'देव', ऐसी संभावना है (ऐसा हो सकता है- माना जा सकता है), अतः 'जिसकी उपपत्ति नहीं हो सकती ऐसे बाह्य (हेतु) को मानकर क्या लाभ' (**'किमन्येन बाह्येनानुपपत्तिना'**[१]) इस पूर्वोक्त (शब्दसमूह) से सम्बन्ध है।

लीला - (१) हम साधारण लोग जब स्वप्न देखते हैं या कल्पना आदि करते हैं तब ज्ञान के विषय हम से भिन्न नहीं होते हैं। उनका निर्माण हम स्वयं- बिना किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से- बिना बाह्य उपादान के करते हैं। अर्थात् प्रकृत स्थिति में विषय बाह्य अर्थात् लौकिक नहीं होता अपितु कर्ता- ज्ञानवान् का ही एक रूप होता है जो बाह्यत्वेन आभासित होता है।

(२) योगी भी अपने योगबल से जिन पदार्थों का निर्माण करता है उनका उपादान कारण भी बाह्य नहीं होता है। वे योगिशक्ति (योगी की इच्छाशक्ति[२]) से अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि योगी से अभिन्न रूप में उत्पन्न होते हैं।

हम जैसे प्राकृत जन एवं योगी जैसे योगशक्तिसम्पन्न जन भी परम चैतन्य के मुखापेक्षी रहते हैं। प्राकृत जन एवं योगी भी परमशिव से प्रकाशित हुये हैं- उत्पन्न हुये हैं, अतः जैसा परमशिव है, हम भी वैसे ही हैं- उसके ही समान हैं, भले ही पूर्ण समानता न होकर सङ्कुचित समानता हो। अतएव यह मान लेना उचित होगा कि चिदात्मा देव भी अपने आन्तर तत्त्व को बाह्यरूप में प्रकाशित करता है।

चिदात्मा देव अपने से ही विश्व-चेतन एवं अचेतन को आभासित करता है-

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (१/५/६) पृष्ठ १७७

२. **'योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन तत्।**
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम्।।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- २/४/१०)
(बिना मिट्टी-बीज आदि के ही स्थिर एवं अर्थक्रियाकारी घट- अङ्कुर आदि, योगी की इच्छाशक्ति के द्वारा उत्पन्न होते हैं)।

उत्पन्न करता है, ऐसा मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। वह अपने को- अपने आभ्यन्तर तत्त्व को बाह्यरूप में आभासित करता है, जिसे हम बाह्यजगत् कहते हैं। चिदात्मा स्वतन्त्र है। उसमें स्वातन्त्र्यशक्ति है। **'स्वातन्त्र्य शक्तिः'** का अर्थ है **'कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमप्रतिहतशक्तिः'**। अतः वह सब कुछ करने में समर्थ है। उससे पर कुछ है ही नहीं, तब फिर किस अन्य (स्वेतर) तत्त्व को उपादान कारण बनायेगा। वही (चिदात्मादेव) निमित्तकारण और वही उपादान कारण है।

प्रकृत कारिका में (**'चिदात्मैव हि देवोऽन्तः....'**) में जो 'देव' शब्द का प्रयोग है उसका अर्थ है 'उस (ईश) का स्वातन्त्र्य-चिद्रूपत्व।

चिदात्मा हि (यस्मात्) देवः इच्छावशात् अन्तःस्थितं निरुपादानम् अर्थजातम् योगी इव बहिः प्रकाशयेत्[1] (तस्मात्) 'किं बाह्येन अनुपपत्तिना'[2] (अर्थेन)।

'सम्भाव्यते'[3] = यहाँ लिङ् लकार का प्रयोग सम्भावना अर्थ में है- (**'शकि लिङ् च'** - अष्टाध्यायी- ३/३/१७२)

(४)

प्रसङ्ग - (१) हमें जो बाह्य वस्तुओं का आभास होता है अथवा यों कहें कि बाह्य वस्तुओं का जो ज्ञान होता है वह वस्तुतः बाह्य वस्तुओं के विद्यमान होने पर अर्थात् उनकी वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता होने पर होता है अथवा (२) उनकी बाह्यसत्ता न होकर योगी के समान परेश ही अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से उनका निर्माण (स्वेच्छया) करता है अर्थात् चिदात्म देव अपने आन्तर स्वरूप को ही बाह्यरूप में आभासित करते हैं।

पहला मत (१) है सौत्रान्तिकों का जो बाह्यार्थानुमानवादी हैं और दूसरा (२) है प्रत्यभिज्ञामत। दोनों ही मत अनुमानाश्रित हैं- दोनों मतों से मात्र संभावना की जाती है। दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं हो पा रहा है। ऐसी शङ्का होने पर यहाँ दो सूत्रों (१/५/८-९) के द्वारा बाह्यार्थानुमान की सम्भावना को दूर किया जाता है जिससे निश्चय हो जाता है कि प्रत्यभिज्ञामत ही मान्य है-

---

१. **'प्रकाशयेत्'** का अर्थ है (जब) 'प्रकाशित कर सकता है'। देखें पादटिप्पणी संख्या ३

२. (i) प्रत्यभिज्ञाकारिका- (१/५/६) का एक अंश

(ii) जब यह सिद्ध होना सुकर (संभावित) है कि चिदात्मा देव अन्तःस्थित को बाह्यत्वेन प्रकाशित करता है, फिर ऐसे 'बाह्य अर्थ की कल्पना क्यों की जाये जिसकी उपपत्ति न हो सके (-जो युक्तिप्रमाणसह न हो)।'

३. **'संभाव्यते इत्यनेन अत्र संभावनायां लिङिति सूचितम्।** (भास्करी- १/५/७, पृष्ठ २२९)

ननु एवम् उभयथापि संभावनानुमानम् उन्मिषति, तत्र किं मकुरप्रतिबिम्बितघटादिदृष्टान्तेन ज्ञानप्रतिबिम्बिताभासवैचित्र्यो विज्ञानदर्पणातिरिक्तं तत एव बाह्याभिमतं हेतुं कल्पयेम ? किं वा योगि-दृष्टान्तेन संवित्स्वातन्त्र्यमेव हेतुभावेन ब्रूयाम ? तदिदं सांशयिकं वर्तते इति आशङ्क्य बाह्यार्थानुमानसंभावनां सूत्रद्वयेन अपाकर्तुमाह

अनुमानमनाभातपूर्वे नैवेष्टमिन्द्रियम्।
आभातमेव बीजादेराभासाद्धेतुवस्तुनः।। ८।।

आभासः पुनराभासाद्बाह्यस्यासीत्कथंचन।
अर्थस्य नैव तेनास्य सिद्धिर्नाप्यनुमानतः।। ९।।

अर्थ - इस प्रकार यहाँ (बाह्य वस्तुओं की स्थिति के सम्बन्ध में) दोनों ही रूपों में (मात्र) संभावना का (मात्र बाह्य वस्तुओं की संभावना-रूप में) अनुमान स्फुरित होता है (न कि किसी एक मत का निर्धारण हो पाता है) तो सन्देह होता है कि क्या (१) मकुर (शीशे) में प्रतिबिम्बित घट आदि के दृष्टान्त से यह कल्पना (अनुमान) करें कि ज्ञान (-रूपी) दर्पण में प्रतिबिम्बित आभास के वैचित्र्य के कारण विज्ञानरूपी दर्पण से इतर उसी (विज्ञान) से (सिद्ध होने वाले) बाह्यरूप में[१] स्वीकृत अर्थ हैं, अथवा क्या योगी के दृष्टान्त से 'संवित्' (चैतन्य, शिव) के स्वातन्त्र्य को ही हेतुरूप में कहें ? तो यह (उक्त कल्पना एवं कथन विविधरूप में होने के कारण) सन्देहास्पद है ऐसी आशङ्का करके बाह्यार्थ के अनुमान की संभावना को दो सूत्रों (कारिकाओं) के माध्यम से दूर करने के लिए (उत्पलदेव) कहते हैं-

जो पहले से आभात (प्रत्यक्ष) नहीं है ऐसी वस्तु का अनुमान (किसी के भी द्वारा) इष्ट नहीं है (कोई भी व्यक्ति पूर्वाप्रत्यक्ष पदार्थ का अनुमान नहीं मानता) किन्तु इन्द्रिय, (अङ्कुर आदि के) हेतु रूप बीज आदि पदार्थ के प्रत्यक्ष से, प्रत्यक्ष (का विषय) मानी ही जाती है।।८।।

और संविद् के प्रकाश से बाह्य पदार्थ का आभास कभी नहीं हुआ, अतएव उसकी सिद्धि अनुमान से भी नहीं होती।।९।।

लीला - **उभयथापि संभावनानुमानम्**[२] = सौत्रान्तिक एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों मतों में जो अनुमान बाह्य वस्तु की सत्ता को समझाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वे दोनों ही

---

१. बाह्याभिमतम् = **'बाह्यत्वेनाभिमतम्'** (भास्करी, पृष्ठ २३०)
२. संभावनानुमानम् = **'तर्करूपानुमानम् न तु दृढानुमानम्'** (भास्करी, पृष्ठ २३०)

संभावनामात्र का बोध कराते हैं- तर्कमात्र हैं। यहाँ का अनुमान संभावनानुमान है निश्चयानुमान नहीं- दृढानुमान नहीं। इसमें दार्ढ्य नहीं रहता- यह निश्चयात्मक नहीं होता अतएव सन्देह का जनक है कि अमुक सत्य है या अमुक या अन्य कुछ।

'तत्र किं..........कल्पयेम' = यदि मकुर[1] में घट-पट आदि वस्तुयें प्रतिबिम्बित हों और हम प्रतिबिम्ब ही देख रहे हों तो हम अनुमान के द्वारा निश्चय कर लेते हैं कि अवश्य घट-पट पदार्थों की सत्ता है, यह जिनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। अन्यथा यदि ये पदार्थ न हों तो प्रतिबिम्ब ही न पड़ता। अथ च ये घट-पट आदि पदार्थ शीशे से भिन्न हैं। प्रतिबिम्ब के आधार (मकुर आदि) से प्रतिबिम्ब पदार्थ (घट-पट आदि) सर्वथा भिन्न होता है। किन्तु ध्यान रहे हमें 'ज्ञान' मात्र होता है। उदाहरण के लिए हमें घटज्ञान होता है, घट नहीं होता, -पट ज्ञान होता है पट नहीं होता। देखने, छूने, खाने, सुनने तथा स्मरण आदि करने से ज्ञान ही होता है- घटादि अर्थ नहीं होता। किन्तु हमें जो प्रकृत ज्ञान होता है उसमें आकार होता है- घटाकार ज्ञान, पटाकार ज्ञान इत्यादि विविध ज्ञान होते हैं, मात्र ज्ञान या सदैव एकाकार ज्ञान ही नहीं होता। इसका कारण ? यतः अवश्य बाह्यजगत् में घट, पट आदि अर्थ होंगे ही (जैसे मकुरगत घटपट- प्रतिबिम्ब से बाह्य घट-पट का अनुमान कराते हैं।) - होते ही होंगे, ऐसा अनुमान करते हैं। इसी के साथ यह भी निश्चय हो जाता है कि जैसे प्रतिबिम्ब के आधार मकुर से भिन्न घट-पट आदि बाह्य पदार्थ सिद्ध होते हैं वैसे ही ज्ञान में प्रतिबिम्बित घट-पट आदि भी ज्ञान से भिन्न माने जाते हैं।

तत एव = ततः एव = तस्मात् एव = **यथोक्तात् तस्मात् एव ज्ञानात्**। उस 'ज्ञान से ही' अनुमान किया जाता है कि अवश्य घट-पट आदि पदार्थ हैं- बाह्य हैं- ज्ञान-भिन्न हैं- ज्ञानातिरिक्त हैं।

'किंवा ....ब्रूयाम' = योगी की संवित[2]शक्ति से घटपदादि, नगर-सेना आदि की रचना की जाती है[3]।

अनुमानम् .... वस्तुनः = अनाभातपूर्वे अनुमानम् न एव इष्टम्, इन्द्रियम् हेतुवस्तुनः बीजादेः अभासात् आभातम् एव।

अनाभातपूर्व = वह अर्थ जो पहले प्रत्यक्षतः ज्ञात न हुआ हो। हेतुवस्तु बीज = बीज एक वस्तु है जो अङ्कुर (वृक्ष) का हेतु है। बीज आदि हेतुभूत वस्तु का आभास (प्रत्यक्ष) पहले से हुआ रहता है। इन्द्रिय भी ऐसी है। दर्शन का हेतु- दर्शनहेतु होने के

---

१. **मकुर** = मुकुर = शीशा

२. संविद! = (परमशिव, चित्), चैतन्य शक्ति

३. देखें विभागसंख्या २ एवं ३

कारण इन्द्रिय हेतुवस्तु है और हेतुवस्तु (बीजादि) का प्रत्यक्ष पहले से ही है। इस प्रकार हेतुवस्तु = बीजादि = प्रत्यक्ष एवं हेतुवस्तु = इन्द्रिय। इस प्रकार मान सकते हैं कि इन्द्रिय भी प्रत्यक्ष हुई अर्थात् हेतुवस्तुत्वेन इन्द्रिय प्रत्यक्ष है ही। हेतुवस्तु बीज है प्रत्यक्ष और इन्द्रिय भी हेतुवस्तु है अत: हेतुवस्तु (इन्द्रिय) पहले से ही प्रत्यक्ष है (हेतुवस्तुत्वेन)

आभास: .... अनुमानत: = आभासात् बाह्यस्य अर्थस्य पुन: आभास: कथंचन न एव आसीत्, तेन अस्य (आभासात् बाह्यस्य अर्थस्य) सिद्धि: अनुमानत: अपि न (एव भवति)।

आभास से बाह्य (आभासेतर) पदार्थ का आभास (प्रत्यक्ष) किसी प्रकार भी हुआ नहीं माना जा सकता, तब अनाभात (अज्ञात, अप्रत्यक्ष- आभासबाह्य) पदार्थ की सिद्धि अनुमान से कैसे मानी जा सकेगी ? जिसका पहले प्रत्यक्ष ही नहीं हुआ वह अनुमान-बोध्य कैसे हो सकेगा ? जिसे अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं हुआ रहेगा क्या वह धूमदर्शन से अग्नि का अनुमान कर सकेगा ? नहीं।

(५)

प्रसङ्ग - पिछली कारिका में युक्तियाँ दी गई हैं कि बाह्य अर्थों का आभास-बोध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। कारिकासंख्या ८ एवं ९ में प्रतिपादन किया गया है कि अनुमान के द्वारा भी बाह्य अर्थों का आभास नहीं हो सकता। प्रकृत विभाग में कारिकासंख्या ८ के अर्थ का विवरण प्रस्तुत है -

न केवलम् अनन्तरश्लोकनिर्दिष्टाभि: युक्तिभि: प्रत्यक्षेण बाह्योऽर्थो न आभासते, इयदेव हि प्रत्यक्षं- यत् नीलं भाति इति स्वप्रकाश-संविद्रूपं नाधिकं किंचित् इति यावत् अनुमानेनापि न अस्य बाह्यस्य सिद्धि: इति अपिशब्द:। तत्र अनुमानम् अत्र नैव प्रवर्तितुम् उत्सहते। प्रवृत्तमपि न प्रकृतसिद्धिम् आदध्यात् इति अनेन सूत्रद्वयेन दर्श्यते। तत्र अनुमानं- विकल्प: सर्वश्च अयं विकल्पोऽनुभवमूल इति प्रसिद्धम्। तेन यत् सर्वथा अनाभातपूर्वम्- अननुभूतचरं तत्र अनुमानम् अनुमितिव्यापारो विकल्पात्मा नैव केनचित् वादिना इष्यते। ननु भवतु प्रत्यक्षतो दृष्टेऽनुमाने संकथा इयम्, सामान्यतो दृष्टे तु किं वक्ष्यसि यथा अर्थोपलब्ध्या इन्द्रियानुमाने ?, उच्यते- तत्रापि विकल्पेन यथा सोऽर्थ: स्पृश्यते तथा अनुमेय इति स्थिति:। विकल्पश्च न इन्द्रियादिकम् अर्थं केनचित् संनिवेशविशेषात्मना स्पृशति, अपि तु किंचिदुपलब्धे: कारणम् इति

अमुना स्वभावेन, स च स्वभावः कारणतालक्षणः प्रत्यक्षगृहीत एव। तथा च बीजात् अङ्कुरः तन्तुभ्यः पट इत्यादौ कार्यकारणभावः प्रत्यक्षानुपलम्भबलेन तावत् निश्चेयः। तत्र च प्रत्यक्षं प्रत्याभासं प्रामाण्यं भजते, विमर्शलक्षणस्य प्रमितिव्यापारस्य एकैकशब्दवाच्येऽर्थे विश्रान्तेः तदनुसारित्वाच्च प्रमाणस्य इति वक्ष्यते। 'एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता।' इति। आभासमात्रं च सामान्यम् इति निर्णेष्यते। अनुपलम्भोऽपि अन्योपलम्भरूप आभासमात्रविश्रान्त एव- इति कारणाभासो विशेषशून्यः परिगृहीत एव बीजात् अङ्कुर इति प्रतीतौ यत् यस्य नियमम् अनुविधत्ते अव्यतिरिक्तम् तत् तस्य कार्यम्, इति प्रतिघटं मृत्तिकादिरूपस्य हेतुतद्वन्मात्रस्य आभासात्।

अर्थ - 'न केवल' अव्यवहित (पूर्व) कारिका द्वारा सङ्केतित युक्तियों से बाह्य अर्थ आभासित (प्रत्यक्ष) नहीं होता, (ऐसा बताया गया है, क्योंकि) यही तो प्रत्यक्ष है जो कि 'नील' प्रकाशित हो रहा है वह स्वप्रकाश संवित् (परेश) है, कुछ भी अधिक नहीं, 'अपितु' अनुमान के द्वारा भी इस बाह्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती है इसलिये 'अपि' शब्द का योग किया गया है। यहाँ अनुमान (बाह्यार्थ के बोध कराने में) प्रवृत्त होने में उत्साह नहीं करता। प्रवृत्त होने पर भी प्रकृत (बाह्यार्थ) की सिद्धि नहीं कर पाता यह तथ्य इन दो सूत्रों (कारिकाओं-- संख्या ८ एवं ९) के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। वहाँ (कारिका के) 'अनुमान' (शब्द का अर्थ) है विकल्प, और यह 'विकल्प' (नामक अर्थ, कोई भी हो, कैसा भी हो) सब अनुभवपूर्वक ही होता है ऐसा प्रसिद्ध है। अत: जो सर्वथा 'अनाभातपूर्व' है अर्थात् 'पहले से अनुभूत नहीं है'- प्रत्यक्ष नहीं है वहाँ (विषयबोध में) अनुमान अर्थात् अनुभिति का व्यापार जो कि विकल्परूप होता है, कोई वादी नहीं चाहता।

प्रश्न - प्रत्यक्षतोदृष्ट अनुमानस्थल में यह बात भले ही हो (होती मान ली जाये कि अनाभातपूर्व विषय का बोध अनुमान से नहीं होता) किन्तु सामान्यतोदृष्ट अनुमान-स्थल में क्या कहोगे (जहाँ अनुमेय पदार्थ का विशेषरूप से प्रत्यक्ष कभी न होकर सामान्यरूप से ही प्रत्यक्ष होता है) यथा पदार्थज्ञान से इन्द्रिय के अनुमान के स्थल में ?

उत्तर - वहाँ भी विकल्प के द्वारा वह अर्थ जिस रूप में प्रकाशित होता है उसी रूप में अनुमेय होता है, यह स्थिति है।

विकल्प इन्द्रिय आदि अर्थ को विशेष आकाररूप में स्पर्श नहीं करता किन्तु 'ज्ञान का कोई कारण है इस रूप में (स्वभाव से) और वह स्वभाव 'कारण होना'- रूप

है जो कि प्रत्यक्ष से ज्ञात ही है, जैसे कि 'बीज से अङ्कुर' 'तन्तुओं से पट' इत्यादि (स्थल में, रूप में) कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धि के आधार पर निश्चय कर लिया जाना चाहिये (निर्णय होता है)। उन (प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ इन द्विविध प्रमाणों में से) प्रत्यक्ष का (वस्तुत:) सभी आभासों में प्रामाण्य होता है, विकल्प ज्ञान (विमर्श)- रूप प्रमिति के व्यापार का पर्यवसान प्रत्येक शब्द के वाच्य अर्थ में होता है और उस (विमर्श-विकल्पज्ञान) के अनुसार प्रमाण कृतकार्य होता है (शान्त होता है- **विश्रान्तेः**) - (यह तथ्य) कहा जायेगा **'एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका-२/३/२६) (अर्थ- 'यथार्थ अबाधित ज्ञान उस वस्तु का होता है जो एक शब्द द्वारा सङ्केतित होती है')। 'सभी आभास सामान्य (सविकल्पक, न कि निर्विकल्प) होते हैं' यह निर्णय किया जायेगा। अनुलम्भ (अभाव) भी अन्योपलम्भ-रूप है (अत:) उसका पर्यवसान आभास में ही होता है अत: कारणाभास भी विशेष (अर्थात् स्वलक्षण) से शून्य गृहीत होता है (समझा जाता है) और 'बीज के द्वारा अङ्कुर के ज्ञान' स्थल में सदैव जो नियमत: जिसके पश्चात् निरपवाद (लब्धसत्ताक) होता है वह उसका कार्य होता है क्योंकि प्रत्येक घट के कारण होने मात्र के रूप में मृत्तिका आदि का स्फुरण होता है।

लीला - **अनन्तरश्लोक = 'चिदात्मैव हि देवो......प्रकाशयेत्'** यह श्लोक (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/७) अर्थात् **'अनुमानमनाभातपूर्वे........वस्तुनः'** के अव्यवहितपूर्व प्राप्त श्लोक। **'अनन्तर'** शब्द का अर्थ अव्यवहित (बिना 'अन्तर' अर्थात् 'व्यवधान' के जो हो)। अव्यवहित 'पूर्व' एवं अव्यवहित 'पश्चात्' इस रूप में 'अन्तर' को विभक्त माना जायेगा। इस प्रकार 'अनन्तर का अर्थ (१) **'अव्यवहित पूर्व'** (स्थित) एवं (२) **'अव्यहित पश्चात्'** (स्थित) दोनों ही है। इन दोनों अर्थों में 'अनन्तर' शब्द का अर्थ 'पश्चात्' या 'बाद' (जिसका अभिप्राय 'अव्यवहित पश्चात्' 'बिना अन्तर के बाद वाला) अधिक प्रचलित है- व्यवहृत होता है जबकि 'अव्यवहितपूर्व' अर्थ कम प्रयोग में आता है। आता है, यथा- **'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'** इस न्यायसूत्र (१/१/२) में प्रयुक्त 'अनन्तर' शब्द एवं **'नायमनन्तरो दोषः'** (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य- २/२/९) में प्रयुक्त 'अनन्तर' शब्द 'अव्यवहितपूर्व' अर्थ में है। ध्यान रहे 'अनन्तर' शब्द का अर्थ मात्र 'पश्चात्' या पूर्व नहीं होता अपितु 'अव्यवहित' पश्चात्' या 'अव्यवहित' पर होता है, यथा ' ६, ७, ८, ९, १०, ११' यहाँ हम कहेंगे- '८ के अनन्तर ९ है', '८ के अनन्तर ७ है'। किन्तु यदि हम कहें '८ के अनन्तर १० है' तो यह कथन यथार्थ न होगा, कारण, ८ एवं १० के बीच में एक संख्या अर्थात् ९ का अन्तर है। यह कहना यथार्थ होगा कि ८ से १० एकान्तरित है अर्थात् दोनों के बीच में एक संख्या (९) का अन्तर (व्यवधान) है।

श्लोकनिर्दिष्टाभिः युक्तिभिः = योगिदृष्टान्तादिरूपाभिः उपायैः[1]। कारिका संख्या ७ (**'चिदात्मैव हि देवो.........'**) में योगी का दृष्टान्त देकर दिखलाया गया है कि जिस वस्तुजात का हम प्रत्यक्ष करते हैं वह वस्तुजात अन्तःस्थित थी, उसका बहिः प्रकाशन मात्र होता है। वह अर्थजात स्वप्रकाश संविद्-रूपी ही है - **'यदन्तस्तद्बहिः'**।

प्रमाण के द्वारा ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय किया जाता है किन्तु 'न तो प्रत्यक्ष के द्वारा और न ही अनुमान के द्वारा यह सिद्ध होता है कि पदार्थ 'बाह्य' होता है। स्वप्रकाश संविद् के अतिरिक्त कुछ नहीं होता- **'न केवलं प्रत्यक्षेण बाह्योऽर्थो न आभासते यावत् अनुमानेनापि न अस्य बाह्यस्य सिद्धिः'**। प्रश्न है कि प्रत्यक्ष है क्या ? **उत्तर** है - **'इयदेव हि प्रत्यक्षं- यत् नीलं भाति इति स्वप्रकाशसंविद्रूपं नाधिकं किञ्चित्'**।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जड एवं चेतन द्विविध सृष्टि परेश (शिव, संविद्, अनुत्तर) से होती है। वही सर्वविध सृष्टि का- अर्थजात का उपादान एवं निमित्त कारण है। वह अपने द्वारा अपने में ही अपने को जडचेतन प्रकृति के रूप में प्रकाशित करता है- प्रकट करता है, स्थित रखता है और विलीन भी कर लेता है- **'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'**[2]

'निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने।।'[3]

(जैसे) प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता है कि 'नील' आदि अर्थ द्रष्टा अथवा (द्रष्टा का भी स्रोत या मूल या अंशी या स्वरूप) संविद् से बाह्य (भिन्न) है। वस्तुतः संविद् ही सब कुछ है, उससे भिन्न (बाह्य, अतद्रूप) कुछ है ही नहीं। (वैसे) अनुमान भी यहाँ कृतकार्य नहीं हो सकता। यदि अनुमान का उपयोग भी यहाँ करें तो वह भी यह सिद्ध न कर पायेगा कि जिस नील आदि अर्थ का हमें आभास-बोध होता है वह संविद् से बाह्य है[4]। प्रकृत दो सूत्रों (कारिकाओं)- **'अनुमानमनाभात.......वस्तुनः'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.८) एवं **'आभासः ....नाप्यनुमानतः'** (१.५.९) के द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि कोई वस्तु स्वप्रकाशसंविद् से भिन्न (बाह्य) है। वस्तुतः सब कुछ स्वप्रकाशसंविद्रूप ही है।

अनुमानमनाभातपूर्वे न एव इष्टम्'। अनाभातपूर्व = जो पदार्थ पहले (पूर्व) से आभात (अनुभूत, प्रत्यक्ष) नहीं है, (अन् = नहीं + आभात = अनुभूत प्रत्यक्ष)। जो

---

१. भास्करी, पृष्ठ २३०
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्- २
३. वसुगुप्त
४. **'प्रकृतसिद्धम्- बाह्यार्थसिद्धिरूपाम्'** पादटिप्पणी, संख्या- २३५

पदार्थ पहले प्रत्यक्ष नहीं रहा होता है उसमें (अनाभातपूर्वे विषये पदार्थे) अनुमान (की प्रवृत्ति) किसी को इष्ट नहीं होती। कोई व्यक्ति यह मानने को तैयार न होगा कि पूर्वाप्रत्यक्ष विषय अनुमेय हो सकता है। वस्तुतः 'अनुमान' शब्द का अर्थ ही है 'अनु पश्चात् **प्रत्यक्षानन्तरं मीयते अनेन इति अनुमानप्रमाणम्**'। 'अनु' शब्द का अर्थ यहाँ 'प्रत्यक्ष के अनन्तर' ही है। इसीलिए न्यासूत्र (१.१.५)- **'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च'** में 'अनुमान' (ज्ञान अथ च प्रमाण) को 'तत्पूर्वक' कहा गया है। 'तत्पूर्वक' इस समस्तपद के पूर्व पद 'तत्' से 'प्रत्यक्ष' अर्थ ही ग्राह्य है[१]। धूमदर्शन से 'अग्नि' का अनुमान होता है, उस 'अग्नि' का जिसे हम पहले प्रत्यक्षतः देख चुके होते हैं। व्याप्ति के बिना अनुमान नहीं हो सकता और व्याप्तिज्ञानकाल में लिङ्ग और लिङ्गी दोनों का प्रत्यक्षज्ञान होता है।

अनुमान है विकल्पस्वरूप। अनुमान के द्वारा हमें जिस विषय का ज्ञान होता है वह कल्पना पर आधृत होता है। वह उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अनुमेयाग्नि के विषय में हम सामान्य अग्नि का ही ज्ञान करते हैं, उसका निश्चितरूप से ईदृक्तया ज्ञान नहीं होता। हो सकता है कि हमने जिस अनुमेय अग्नि की कल्पना 'कण्डे की थोड़ीसी अग्नि' के रूप में की हो वह 'लकड़ी में अधिक अग्नि' हो।

विकल्प का आधार अनुभव (प्रत्यक्ष) होता है। जिसने अग्नि को नहीं देखा है वह अग्नि की कल्पना भी नहीं कर सकता। सब प्रकार की कल्पना का आधार पूर्वानुभव ही होता है। अनाभातपूर्वम् = अननुभूतचरम्। अनुमानम् = अनुमिति व्यापारः = विकल्पात्मा (विकल्परूपः)

पूर्वपक्ष की शङ्का - अनुमान के दो प्रभेद होते हैं[२]- (१) दृष्ट (२) सामान्यतोदृष्ट

(१) **दृष्ट** - इस अनुमान प्रभेद को सांख्यदर्शन में 'दृष्टस्वलक्षणविषय' कहा जाता है। दृष्ट वहाँ होता है जहाँ अनुमेय पूर्वतः विशेषरूपेण दृष्ट रहता है। धूमदर्शन से अनुभूत अग्नि का स्वरूपतः (तज्जातीयरूप से) प्रत्यक्ष पहले हुआ रहता है।

(२) **सामान्यतोदृष्ट**- इस अनुमानस्थल में अनुमेय का पूर्व प्रत्यक्ष नहीं रहता है। वस्तुतः यहाँ का अनुमेय (लिङ्गी) प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं होता है, फिर उसकी व्याप्ति

---

१. (i) उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन, पृष्ठ ९३

(ii) **'तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं' लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽ र्थोऽनुमीयते।'** (न्यायभास्य- १/१/५)

२. (i)**'तत्तु द्विविधम्- 'दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च'** (प्रशस्तपादभाष्य- पृष्ठ १६९)

(ii) न्यायसूत्र में **'पूर्ववत्', 'शेषवत्', 'सामान्यतोदृष्ट'** इस प्रकार भी प्रभेद किये गये हैं।

के लिये आवश्यक' लिङ्ग एवं लिङ्गी के साहचर्य का दर्शन' (दोनों का प्रत्यक्ष) हो नहीं पाता। केवल सामान्यतः ही दृष्ट हो पाता है लिङ्गी। उदाहरण के लिये अर्थ (विषय) की उपलब्धि (ज्ञान) से इन्द्रिय के अनुमान स्थल में) यथा, रूप के दर्शन से चक्षुरिन्द्रिय का अनुमान होता है। चक्षुरिन्द्रिय को किसी ने कभी देखा नहीं- प्रत्यक्ष नहीं किया, अत; उसके स्वरूप का प्रत्यक्षतः बोध नहीं हो सकता। हाँ विषय'बोध' के 'करण'रूप में उसका ज्ञान होता है- 'विकल्प'रूप ही यह ज्ञान होता है। अतः सामान्यतोदृष्ट-अनुमानस्थल में अनुमेय को पूर्वानुभूत नहीं मान सकते, तभी कहा कि **'प्रत्यक्षतो दृष्टे अनुमाने भवतु इयम् संकथा'** अर्थात् यह बात (**संकथा**) कि **'विकल्पोऽनुभवमूलः'** दृष्ट ('प्रत्यक्षतः दृष्ट' अनुमानप्रभेद)-स्थल में ही चरितार्थ हो सकती है, सामान्यतोदृष्टानुमानस्थल में नहीं।

शङ्का का **समाधान** - माना कि सामान्यतोदृष्ट अनुमानस्थल में अनुमेय का ज्ञान विकल्परूप होता है। यहाँ अनुमेयार्थ- यथा इन्द्रिय (यथा चक्षु) का ज्ञान उस (इन्द्रिय) के विशेष आकार का ज्ञान नहीं होता अपितु 'रूप आदि ज्ञान का कोई कारण है', वह इन्द्रिय है इस प्रकार 'किसी के कारण होने' के रूप में अर्थ का ज्ञान होता है और 'कारण होने वाले (बीज, तन्तु आदि) का प्रत्यक्ष ग्रहण होता ही है। (सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय विषय की प्रतीति होती है- **'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्'**[१])। बीज अङ्कुर का और तन्तु पट का कारण होता है यहाँ कार्यकारणभाव का निश्चय किस प्रकार किया जाता है यह **प्रश्न** है। अङ्कुर का कारण बीज है इसमें क्या प्रमाण है, पट का कारण तन्तु हैं इसमें क्या प्रमाण है 'प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ (प्रत्यक्ष का अभाव)' क्योंकि मिट्टी एवं जल के मिलने पर अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती- (अङ्कुर के प्रत्यक्ष का 'अभाव'- 'अनुपलम्भ' रहता है, बीज के होने पर अङ्कुर की उत्पत्ति होती है- अङ्कुर का प्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार दण्ड एवं चक्र के होने पर न उत्पन्न हो रहा घट मृत्पिण्ड के होने पर उत्पन्न होता है- प्रत्यक्ष होता है (**'तद्यथा मृज्जलयोः सन्निहितयोरभवन्नङ्कुरः, स हि सति बीजे भवेत्, दण्डचक्रयोः सतोरभवन्घटः मृत्पिण्डे सति भवेत्। तदधिकबीजहेतुकः तदधिकमृत्पिण्डहेतुक इति क्रमेण प्रत्यक्षानुपलम्भजो निश्चयो जायते**[२]।)

अतः प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ प्रमाण से प्रकृतस्थल में कार्यकारणभाव का निश्चय होता है। उक्त सब कथन का सारांश यह है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान के स्थल में भी अनुमेय पूर्वानुभूत ही रहता है, माना कि यहाँ का अनुमान विशेषतोदृष्ट (दृष्ट) न होकर सामान्यतोदृष्ट रहता है किन्तु फिर भी है तो वह 'दृष्ट' ही- अनुभूत ही- प्रत्यक्ष ही।

---

१. (i) सांख्यकारिका संख्या ६
(ii) देखें उक्त सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी'
२. पादटिप्पणी, संख्या- २४२

अब प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ इन दो प्रमाणों के स्वरूप पर विचार कर लिया जाये। इन दो प्रमाणों (प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ) में से[१] प्रत्यक्षप्रमाण तो सभी आभासों में[२] प्रमाण रहता है अर्थात् प्रत्येक आभास (प्रकाश, ज्ञान) का प्रत्यक्ष होता है। ऐसा कोई आभास नहीं होता कि उसका प्रत्यक्ष न होता हो। आभास हो और हमें उसका प्रत्यक्ष न हो ऐसा सम्भव नहीं । ऐसा कोई प्रकाश नहीं जिसका प्रत्यक्ष न होता हो। वस्तुत: अवभास का स्वभाव है विमर्श अर्थात् प्रकाश का विमर्श स्वाभाविक है- अनिवार्य है[३]। प्रत्येक प्रकाश का विमर्श होता है। विमर्श है क्या ? विमर्श है प्रमिति का व्यापार- सविकल्पक ज्ञान का व्यापार (क्रिया, कर्म), और वह व्यापार ऐसे अर्थ (वस्तु) को विषय बनाता है जो (अर्थ) एक शब्द का वाच्यार्थ होता है। प्रत्येक वाच्य अर्थ (निर्विकल्पक- धर्मधर्मिरूप समुदाय[४]) के लिये एक शब्द निश्चित रहता है- निश्चित रहा करता है। अत: जितने अर्थ होते हैं सबके लिए एक-एक शब्द अवश्य रहा करता है[५] और प्रमाण विमर्श का अनुसरण करता है यह बात आगे[६] **'एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता'** (अबाधित प्रमाका विषय एक शब्द का वाच्य अर्थ होता है) इस कारिकास्थल में बतलाई जायेगी। 'प्रत्येक आभास सामान्य होता है (विशेष नहीं)' इसका निर्णय आगे[७] किया जायेगा।

अब यह समझा जाये कि 'अनुपलम्भ' प्रमाण क्या है ? अनुपलम्भ है 'अन्योपलम्भ'-रूप (अन्य+उपलम्भ-रूप)। उदाहरण के लिये घटाभाव (यथा 'भूतले घटाभाव:') है अन्य (भूतल) का उपलम्भ। भूतल पर घड़ा नहीं है = भूतल है = घट से अन्य (भूतल) की उपलब्धि। इस प्रकार अनुपलम्भ भी अन्ततोगत्वा 'आभास' के अन्तर्गत ही मान्य हुआ।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि कार्यकारणभाव का निश्चय प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के सहारे हो जाता है अर्थात् आभास के द्वारा होता है। यहाँ कारणाभास के रूप में गृहीत बीज, मृत् (मिट्टी) आदि विशेषशून्य अर्थात् सामान्य हैं- सविकल्पक (प्रत्यक्ष) का विषय हैं। 'बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है' यहाँ नियमत:- अव्यभिचारेण जो जिसका अनुसरण करता है[८] वह (अनुसर्ता) उस (अनुसार्य) का कार्य है, क्योंकि इस

---

१. **'तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भयोर्मध्ये'** (भास्करी, पृष्ठ २३२)
२. **'प्रत्याभासं सर्वेष्वाभासेषु'** (भास्करी, पृष्ठ २३२)
३. **'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा......'** (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.११)
४. **'एकैकशब्दवाच्ये एकैकशब्दाभिधेयसमस्तधर्मधर्मिसमुदायरूपे'** (भास्करी, पृष्ठ २३२)
५. **'यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्यय:'** (न्यायभाष्य- १.१.४)
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- (२.३.२) द्वितीय भाग, पृष्ठ ६४
७. **'निर्णेष्यते, अस्यामेव कारिकायामित्यर्थ:'** (भास्करी, पृष्ठ २३३) अर्थात् कारिका संख्या २/३/२ एवं उसकी विमर्शिनी में निर्णय किया जायेगा।
८. **'मृदो घट इति प्रत्यये यद्यस्य नियममनुविधत्ते तत्तस्य कार्यम् इत्यपि सामान्यमवभातमेव, ततश्च रूपोपलब्धिर्यस्य नियममनुविधत्ते तन्नेत्रमिति तत्पूर्वं प्रमाणगृहीतमेव तत एव सामान्यतोदृष्टिमिति तात्पर्यम्।** (पादटिप्पणी, संख्या- २४६)

प्रकार प्रत्येक घट का आभास इस रूप में होता है कि तत्तत् घट का हेतु केवल (मात्र) मृत्तिका होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्य अर्थ की सिद्धि न तो (i) (अभिमत) प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है (ii) न दृष्ट अनुमान से होती है और (iii) न ही सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही होती है। यहाँ कारिका संख्या ८- **'अनुमानमनाभातपूर्वे......'** की व्याख्या समाप्त हुई।

(६)

प्रसङ्ग - यदि यह माना जायेगा कि संविद्बाह्य भी अर्थ होता है तो उस अर्थ की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से हो पायेगी और न ही अनुमान से-

आभासात् बाह्यः पुनरनाभासरूपः, स च आभासते इति विप्रतिषिद्धम्। अनाभाते च नास्ति विकल्परूपस्य अनुमानस्य व्यापारः। ग्रामगृहादेस्तु यत् बाह्यं तत् अग्रामादिरूपं न उच्यते- प्रत्येकं वाटानूपकुड्यतुलादेः बाह्यत्वप्रसङ्गात् अपितु तत्संनिकृष्टम्, तस्मात् ग्रामबाह्यम् इति च शब्दसाम्यमात्रम् एतत् न वस्तुसाम्यम्। एवं ये विकल्पे वस्तु न आभाति इति मन्यन्ते तेषामपि तावत् अनुमानविकल्पो न बाह्ये उपपन्नः। अस्माभिस्तु उपपादितम्- अध्यवसायस्यापि आभासमानविषयत्वम् 'भ्रान्तित्वे चावसायस्य' इति सूत्रे। तेन अनुमानविकल्पात्मनापि प्रकाशेन यदि अनाविष्टो नीलादिः अर्थ तत् न अनुमित एव स्यात्। अथ आविष्ट एव, तर्हि 'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्' इति न्यायेन प्रकाशमात्रस्वभाव एव, न बाह्यः। तेन बाह्ये साध्ये यत् किञ्चित् प्रमाणम् आनीयते, तदबाह्यतामेव प्रत्युत प्रसाधयति इति विरुद्धमेव, अत एव आह 'कथंचन' इति, केनापि प्रकारेण प्रत्यक्षात्मना अनुमेयात्मना वा आभासनम् आभासो बाह्यस्य अनाभासस्य न कदाचित् अभूत् इति, तस्मात् सिद्धम् 'चिदात्मैव हि देव' इति।। ९।।

अर्थ - आभास (संविद् के आभास) से भिन्न तो अनाभास (जो अभास न हो)-रूप मानना होता) है (और) वह (अनाभासरूप अर्थ) 'आभासित- प्रकाशित होता है' यह कहना या समझना परस्पर) विरुद्ध है। (पदार्थ में) अनाभास (होने की स्थिति) में (तो) विकल्परूप अनुमान का व्यापार (भी) नहीं (हो पाता) है। जो (अर्थजात) 'ग्राम से बाह्य'

(कहा जाता है) वह (अर्थजात) अग्रामादिरूप नहीं कहा जाता है (अर्थात् 'बाह्य' शब्द का अर्थ 'असम्बद्ध' या 'अभाव' नहीं है) क्योंकि (तब तो) वाट (मार्ग) अनूप (दलदल, तालाब), कुड्य[1] (दीवार) एवं तुला (तराजू) आदि के बाह्य होने की प्रसक्ति हो जायेगी (वाट आदि बाह्य माने जाने लगेंगे) अपितु ('ग्रामबाह्य' का अर्थ) 'उस (ग्रामादि) के समीप' है, इस प्रकार 'ग्रामबाह्य' एवं 'आभासबाह्य' (यहाँ) यह शब्दसाम्य है, वस्तुसाम्य (अर्थसाम्य) नहीं है। इस प्रकार जो (बौद्ध) 'विकल्प में वस्तु आभसित- ज्ञात नहीं होती' ऐसा मानते हैं, उनके भी मत में बाह्य का अर्थ ('असम्बद्ध' या 'अतद्रूप' मानने अथवा) होने पर 'अनुमानविकल्प चरितार्थ नहीं हो पाता है। हमने **'भ्रान्तित्वे चावसायस्य'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.३.५) इस सूत्र में 'अध्यवसाय (विकल्प) का विषय आभास होता है' (ऐसा) प्रतिपादित किया है। इसलिये अनुमानविकल्परूप आभास के अन्तर्गत यदि नील आदि अर्थ न हुआ तो वह (नीलादि अर्थ) अनुमित ही न हो सकेगा। और यदि (नीलादि अर्थ प्रकाश के) अन्तर्गत ही है तो **'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.२) इस युक्ति के अनुसार (नीलादि अर्थ) प्रकाशमात्रस्वभाव वाला (प्रकाशरूप) ही है, बाह्य (तद्भिन्न) नहीं। इस प्रकार (नीलादि अर्थ के प्रकाश से) बाह्य सिद्ध करने में जो भी प्रमाण लिया जाता है वह उलटे उस (नीलादि की) अबाह्यता को ही सिद्ध करता है, इस प्रकार (यहाँ साध्य के) विरुद्ध है, इसीलिए (प्रकृत कारिका में) कहा गया है 'कथंचन' अर्थात् किसी भी प्रकार से प्रत्यक्षरूप में या अनुमेयरूप में आभासन (आभास) बाह्य का अर्थात् अनाभास का कभी नहीं हुआ है (आभासबाह्य न तो प्रत्यक्ष हो सकता है और न अनुमेय), इसलिये (जो कारिका संख्या- १.५.७ के द्वारा कहा गया था) 'चिदात्मा हि देवः' (वह) सिद्ध हो गया।

लीला - अब नवीं कारिका **'आभासः पुनराभासात्......'** की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। कारिका का अन्वय इस प्रकार करें- **'आभासाद् बाह्यस्य अर्थस्य आभासः कथंचन नैव आसीत्, तेन अस्य सिद्धिः अनुमानतः अपि न'**।

आभास (संवित्प्रकाश) से बाह्य होने वाला अर्थ तो 'अनाभासरूप' (मान्य होगा) और वह 'आभासित' (प्रकाशित) होता है यह तो विरुद्ध कथन हुआ, और जब वह अनाभात (अप्रकाशित) ही है तो इस प्रकार अनाभात होने पर इसमें अनुमान, जो कि विकल्परूप- सामान्यरूप होता है, व्यापृत न हो सकेगा- प्रवृत्त न हो सकेगा, जैसा कि इसी विभाग में कहा गया है **'आभासमात्रं च सामान्यम्'**। अनाभात में सामान्यरूप अनुमान प्रवृत्त न होगा।

एक **प्रश्न** है आभासबाह्य अर्थ क्यों न माने जायें जबकि हम 'ग्रामबाह्य' अर्थ

---

१. **'कुड्य'** का अर्थ **खाई** ('ditch') नहीं।

मानते हैं, यथा वाट (मार्ग, उद्यान) अनूप[१] (तालाब, दलदल) कुड्य[२] (भित्ति, दीवार) तथा तुला (तराजू)। जैसे गाँव के बाहर वाट, अनूप आदि अर्थ को 'ग्रामबाह्य' माना जाता है वैसे ही 'आभासबाह्य' अर्थ क्यों न मान्य हों ?

उत्तर- ग्राम से बाह्य पदार्थ को 'अग्राम'- रूप नहीं कहा जाता है अपितु 'ग्राम के बाहर' (ग्रामबाह्य) का अर्थ है 'ग्राम के समीप' (न कि ग्रामभिन्न या ग्राम से सर्वथा असम्बद्ध)। ग्रामबाह्य और आभासबाह्य में शब्दसाम्य है, अर्थसाम्य नहीं। कारण, ग्रामबाह्य का अर्थ है ग्राम (सीमित प्रदेश) से बाहर अर्थात् समीप किन्तु आभासबाह्य का अर्थ हो गया आभास (संविद्- जो कि विभु एवं विश्वरूप है) से बाह्य। किन्तु सर्व से बाह्य अर्थात् भिन्न कुछ भी नहीं हो सकता।

बौद्धों की मान्यता है कि विकल्प प्रमाण नहीं। वस्तु का यथार्थज्ञान उस (वस्तु) के स्वलक्षण का ज्ञान है, जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष एवं अनुमान सब विकल्परूप ही हैं। बौद्ध विविध विकल्पों में अनुमान को प्रमाण मानते हैं वह भी इसलिये कि ग्राह्यवस्तु में अर्थक्रियाकारिकत्व धर्म रहता है। शब्दादि प्रमाणों का अन्तर्भाव बौद्ध अनुमान में ही करते हैं। अनुमान बौद्धों के अनुसार विकल्प है अत: भ्रान्त होना चाहिये[३]। तब बाह्य अर्थ को सिद्ध करने में भी अनुमान बौद्ध मत के अनुसार अकिञ्चित्कर होगा।

'भ्रान्तित्वे चावसायस्य ....' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.३.५) में पहले कहा जा चुका है कि चाहे अनुमान हो, अथवा कोई भ्रान्तिज्ञान हो, स्वसंवेदन अंश में वहाँ भ्रान्ति नहीं होती[४]। क्या हमें ज्ञान (भले ही वह भ्रम हो) हुआ, इस विषय में भी स्मृति की यथार्थता नहीं होती ? 'ज्ञान हुआ था' यह यथार्थ है, भले ही जो ज्ञान हुआ था वह यथार्थ न हो अर्थात् उसके विषयभूत रजत आदि अर्थ न हों। किन्तु हमें 'रजत का ज्ञान' हुआ था यह तो यथार्थ ही है अर्थात् 'रजत का ज्ञान हुआ था', न कि 'रजत का ज्ञान नहीं हुआ था'। इस प्रकार स्मृति से, जिसे बौद्ध दर्शन में विकल्पज्ञान माना जाता है, तथा अनुमान ज्ञान से भी बौद्ध यह नहीं सिद्ध कर सकते कि आभास से बाह्य वस्तु आभासित हो सकती है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में समस्त जडचेतन प्रकाशविमर्शस्वरूप परासंविद् से आविर्भूत

---

१. **'जलप्रायमनूपं स्यात्'** (अमरकोश- २.१.१०)

२. **भित्तिः स्त्री कुड्यम्'** (अमरकोश- २.२.४)

३. **भ्रान्तं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्'** (न्यायविन्दुटीका- धर्मोत्तरकृता- १.४, पृष्ट ४०)

४. **'इह स्मृतेः अन्यस्य वा भ्रान्तबोधस्य स्वसंवेदनांशे प्रकाशमाने न भ्रान्तिता.....'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी- १.३.५), पृष्ठ १०१-०२

होता है- प्रकाशित होता है। विकल्परूप अनुमान से यदि नील आदि अर्थ (कोई भी पदार्थ) प्रकाशित नहीं होता है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह वस्तु अनुमेय नहीं हो सकती। किन्तु यदि अनुमान के द्वारा वह नीलादि अर्थ प्रकाशित हुआ तो यही मानना होगा कि वह अर्थ प्रकाश के ही अन्तर्गत है- प्रकाशस्वरूप है, प्रकाश से (संविद् से) बाह्य नहीं, इस तथ्य का निरूपण या यों कहा जाये कि साधन **'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् ....'** इस कारिका (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.२, पृष्ठ १५४) में किया गया है।

'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्[१]......' = पूरी कारिका इस प्रकार है-

'प्रागिवार्थोऽप्रकाशःस्यात्प्रकाशात्मतया विना।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता।।'

[अर्थ- जैसे ज्ञान होने के पूर्व (प्रागिव) वस्तु अप्रकाशित- अनाभासित रहती है वैसे ज्ञान होने के बाद अप्रकाशित हुई रहती (यदि वस्तु संविद्भिन्न होती)। अर्थप्रकाश एवं संवित्प्रकाश भिन्न नहीं हैं। वस्तुत; संवित्प्रकाश अर्थ का प्रकाश है]

नवीं कारिका के **'आभासः पुनराभासाद् बाह्यस्यासीत्कथंचन'** अंश में **'कथंचन'** शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। अर्थाभास संविदाभास से बाह्य-भिन्न नहीं है। अर्थ को बाह्य सिद्ध करने के लिए यदि कोई प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है तो उस प्रमाण से अर्थ की बाह्यता न सिद्ध होकर उल्टे अबाह्यता ही सिद्ध होती है। अतः गृहीत प्रमाण विरोधी हो जाता है- **'अतः तत्प्रमाणं विरुद्धमेव भवतीत्यर्थः'**[२]। **'प्रमाणं..... विरुद्धमेव'** कहकर यहाँ जायमान 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास की ओर सङ्केत किया गया प्रतीत होता है जिस (विरुद्धहेत्वाभास) का लक्षण है- **'सिदधान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुदधः'**[३]। इस प्रकार कथंचन– 'कथंचित्' (किसी प्रकार भी) अर्थात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान (किसी से भी बाह्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। एतदर्थ 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि अर्थ को आभासबाह्य- संविद्बाह्य माना जायेगा तो उसका आभास किसी भी प्रमाण से- प्रत्यक्ष एवं अनुमान से- नहीं हो सकता।

---

१. **''स भवेत् 'प्राणिव' ज्ञानोदयात् पूर्वं यथा सोऽप्रकाशः, तथा ज्ञानोदयेऽपि स्यात्''** (विमर्शिनी- १.५.२)

२. भास्करी, पृष्ठ २३५

३. न्यायसूत्र- १,२,६
इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार है- **'तं विरुणदधीति तद्विरोधी, अभ्युपेतं सिदधान्तं व्याहन्तीति'** (न्यायभाष्य- १.२.६)

इस प्रकार जो पहले कहा गया है- '**चिदात्मैव हि देवः......**' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.७) इत्यादि वह सिद्ध हो गया।

(७)

प्रसङ्ग - कारिका संख्या ७ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.७) में कहा गया था कि चिदात्मा देव ही 'अपने में ही स्थित' (आभ्यन्तरभूत) अर्थजात को बाह्यरूप में प्रकाशित करता है। किन्तु उस कथन की पुष्टि में प्रमाण प्रस्तुत करने की अपेक्षा होती है। पुष्टि के अभाव में कथन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति शङ्का कर सकता है। एतादृशी शङ्का का निवारण करने के लिए प्रकृत विभाग (एवं विभाग संख्या ८) में विचार किया गया है -

ननु अन्तःस्थितं बहिः प्रकाशयेदित्युक्तं तत् अन्तःस्थितत्वम् उपपादनीयम् इति आशङ्क्य आह

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते।।१०।।

बहीरूपतया आभासने अन्तारूपता न त्रुट्यति 'प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यम्' इति हि वक्ष्यते, तच्च सदैव प्रकाशस्य प्रमातृत्वात्, तदात्मतया च विना प्रकाशमानस्य अवस्तुत्वात्, किं तु तत्र अहम् इति उचिते परामर्शे योऽयम् इदन्तापरामर्शः सैव बाह्यता तच्च इह अन्तःस्थितत्वम् अहमित्येतावता चित्समुचितेनैव वपुषा परामर्शनम्, तच्च इह नीलादीनामस्त्येव, न तु नास्ति इति, यदि हि न स्यात् कुम्भकृतो 'घटं करवाणि' इति य उत्तरक्रियापेक्षया इच्छाशब्दवाच्यः परामर्शः एषणीयात्मना, स परामृश्येन अनियन्त्रितः चेत् ततः पटेच्छा सा न कस्मात् इति संकीर्येरन् व्यवहाराः। अथ तत्रापि च एषणीयः तदानीमेव निर्मितः सन् तथा जातः, तर्हि तन्निर्माणं चिदात्मनि विनेच्छया नोपपन्नम् इति। 'तिष्ठासोरेवमिच्छेव हेतुता।' इत्यत्र वर्णयिष्यते। ततश्च इच्छान्तरमपि विषयनियन्त्रितं ? न वा ? इति विकल्पेऽनवस्था। विषयनियन्त्रितं चेत् स्यात् आत्मतैव जाता, न चेत् घटे पटेच्छा स्यात्।

अर्थ - कारिकासंख्या ७ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.५.७) में कहा गया था कि 'अन्तः स्थितम् ....बहिः ....प्रकाशयेत्' अर्थात् 'चिदात्मा देव समस्त अर्थजात जो कि उसके अन्दर ही स्थित है (उसी का रूप है) उसको बाह्यरूप में प्रकाशित करता है' उस (अर्थ-जात) के अन्तःस्थितत्व का (युक्तिपूर्वक) उपपादन करना चाहिये

ऐसी (आशङ्का किसी को हो सकती है अतः ऐसी) आशङ्का करके (कारिकाकार ने युक्तिगर्भित कारिका) कहा है-

'स्वामी (प्रकाशैकरूप संविद्) के स्वरूप में स्थित (समस्त) वस्तुसमूह (भावजात) का प्रकाशन (अहंरूप में) होता है (अर्थात् जब भाव अन्तःस्थित होता है तब भी उसका प्रकाशन होता है। तब अहंरूप में होता है, इदंरूप में नहीं)। उस (अन्तः स्थित अर्थजात के अभेदेन प्रकाशन- अहंरूपेण प्रकाशन) के बिना इच्छारूप विमर्श की प्रवृत्ति नहीं होती है॥१०॥

(अर्थजात) के बाह्यरूप में आभासित होने पर उसकी आभ्यन्तररूपता नहीं टूटती है इसमें कोई कमी नहीं आती (कोई हानि नहीं होती, जैसा कि) **'प्रमात्रैकात्म्यमान्यर्तम्'**[१] (इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १.८.८ के माध्यम) से कहा जायेगा[२], और वह (आन्तर्य) सदा (अर्थजात के बाह्यरूप में होने की स्थिति में भी) रहती है क्योंकि प्रकाश (आभास) प्रमाता (ही) है, प्रमाता के रूप में प्रकाशित न होकर (अन्यरूप में) प्रकाशित होने वाला (अर्थजात, आभास) अवस्तु (कोई वस्तु नहीं- तुच्छ-शून्य) है। किन्तु उस (भावजात[३]) में जब कि उचित परामर्श होना था 'अहम्' और जो है 'यह' ऐसा (**इन्दन्ता-**) परामर्श, यही है 'बाह्यता' और वह 'अन्तः स्थितत्व' तो है- योगी के चित् के समान आकार में परामर्श[४] और वह अन्तःस्थितत्व नील आदि का भी है (आभ्यन्तर इच्छा-विषयजात अहंरूपतापन्न पदार्थजात नीलादि बाह्यत्वेन आभासित होते हैं), न कि नीलादि का (अन्तः स्थितत्व) नहीं है, यदि कुम्भकार का (मैं) 'घट बनाऊँ' ऐसी इच्छा (अर्थात्) जो बाद में क्रिया की अपेक्षा करती है ('बनाना'-रूप क्रिया के द्वारा ही घट सम्पन्न हो सकेगा- बन सकता है) एतादृश परामर्श न हो अथ च (फलतः) वह[५] (परामर्श) एषण के विषयभूत (होने के कारण) इच्छा के विषयभूत घट से नियन्त्रित (सीमित-गृहीतविशिष्टाकार) न हो तो वह (इच्छा) पटेच्छा ('पटं करवाणि' इत्येवं रूपा) क्यों न हो ? ऐसी आशङ्का होनी स्वाभाविक है, और यदि पटेच्छा होती है तो) व्यवहार (लौकिक व्यवहार) गड्डमगड्ड हो जाते हैं (अर्थात् व्यवस्थाहीनता की आपत्ति होती है)

और यदि उस[६] (घटेच्छा) में इच्छाविषय (यथा 'घट') उसी समय[७] (इच्छाकाल में ही, उससे पूर्व नहीं) बना और इस प्रकार सत्ता में आया (अर्थात् घट पूर्वतः आभ्यन्तर

---

१. आन्तर्य अर्थात् अन्तारूपता का अर्थ है 'प्रमाता के साथ एक रूप होना- प्रमातृरूप होना- संविद्रूप होना।
२. देखें कोश में (**'त्रुट्यति'** शब्द)
३. **'तत्र तस्मिन् भावजाते'** (भास्करी, पृष्ठ २३७)
४. जैसे योगी के अन्तःकरण के विचाररूप वस्तु ही बाह्य आकार धारण कर लेती है।
५. वह, **सः** = परामर्श
६. **'तत्र तस्यां घटेच्छायामपि'** (भास्करी, पृष्ठ २३८)
७. **'निर्मित इति यदेवान्तःपरामर्शनं तदेव निर्माणम् इति केयमन्तःस्थितत्ववाचोयुक्तिः'** (पादटिप्पणी, संख्या- २६५)

न प्रतीत हो- उत्पत्तिकालतः ही उसकी सत्ता मान्य हो) तो भी चिदात्मा में उस (घट) का निर्माण बिना इच्छा के सम्पन्न नहीं हुआ इस (विषय का) वर्णन '**तिष्ठासोरेवमिच्छेव हेतुता**'[१] (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- २.४.२१) इस (कारिका) में किया जायेगा। और फिर दूसरी इच्छा भी क्या विषयनियन्त्रित (विषयभावेन परिच्छिन्न) है ? अथवा नहीं है ? ऐसा विकल्प होने पर तो अनवस्था (माननी पड़ती है, जो दोष) है। यदि (इच्छान्तर) विषयनियन्त्रित है तो (वह इच्छान्तर) आत्मरूप ही हुई (यह सिद्‌ध होता है), किन्तु यदि (ऐसा) नहीं है तो घट के उत्पन्न करने की (कुम्भकार की) इच्छा 'पट' के प्रति (इच्छा) होगी (क्यों होती न मानी जाये ?)।

***लीला* - प्रश्न-** यदि घट आत्मबाह्य अर्थात् इदंतया आभासित होता है ऐसा माना जाये तो ऐसी स्थिति में उस (घटादि) का आत्मा-प्रमाता के साथ एकत्व कैसे ? आन्तरत्व कैसे हो सकेगा ? क्या एतादृशी अन्तारूपता कट न सकेगी, टूट[२] न जायेगी ? **उत्तर-** नहीं, घट आदि के बाह्यरूप से (**इदंतया**) आभासित होने पर भी उसकी **अन्तारूपता** (आभ्यन्तरत्व, अहंभाव, प्रमातृभाव) टूटता नहीं, नष्ट नहीं होता, अपितु आन्तर विषय ही बाह्यत्वेन आभासित होता है। वस्तुतः **'आन्तर्य'** है 'प्रमाता के साथ एकात्मता' अर्थात् जो प्रमाता है वही विषय (घट आदि) है, उससे पृथक् नहीं और आन्तर्य की ऐसी व्याख्या अथवा यों कहें कि एतादृशी परिभाषा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका[३] में पाई जाती है।

चूँकि प्रकाश ही प्रमाता है, अतः जो प्रकाशरूप (आत्मरूप-शिवरूप) नहीं है वह अवस्तु है (उस वस्तु की सत्ता ही नहीं है, वह कुछ भी नहीं है)। जगत् की प्रत्येक वस्तु-जडचेतन आत्मस्वरूप अर्थात् शिवरूप है। शिव स्वयं स्वयं से स्वयं में स्वयं को प्रकट करता है वही है जगत् की सृष्टि। स्वयं स्वयं को (जगत् को) स्वयं में स्थित रखता है। (धारण करता है) यही है जगत् की स्थिति। और स्वयं स्वयं में स्वयं को लीन कर लेता है यही है जगत् का संहार- संहरण- विलय। इस प्रकार परेश से भिन्न कुछ भी नहीं। यही स्थिति हम जैसे प्रमाताओं के विषय में है, जैसा कि आगे घटनिर्माण आदि के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

वह वस्तु कैसी है जिसे हम बाह्य कहते हैं- जिस अर्थ को अहं समझना (और कहना) उचित है (अर्थात् जो मैं से भिन्न नहीं अपितु प्रमातृरूप ही अर्थ है) उसका 'इदं'-रूप में बोध यदि किया जाता है तो वह वस्तु बाह्यपदवाच्य कही जाती है। यदि हम ध्यान

---

१. (i) **'तिष्ठासु'** (स्वतन्त्र-महेश्वर) की ऐसी इच्छा ही क्रिया है, महेश्वर की विश्वकर्ता है।
(ii) विशेष देखें उद्धरणपरिशेषिका में

२. **त्रुट्यति** = (टूटती है) = √त्रुट् (तुदादिगणी, चुरादिगणी, परस्मैपद, सकर्मक, लट्, तिप्

३. कारिकासंख्या- १.८.८

देकर विचार करें तो नील आदि अर्थ- घटादि अर्थ प्रमाता से भिन्न नहीं ठहरते। उदाहरण के लिये– कुम्भकार जब घट का निर्माण करने की इस प्रकार इच्छा करता है कि 'मैं घट बनाऊँ' उस समय उसके अन्तःकरण में जो कल्पित घट उत्पन्न होता है वह बाह्य घट नहीं होता अपितु प्रमाता का एक अंश- एकरूप होता है[1]। यही प्रमातृरूप कल्पित घट ही मूल होता है- आधार होता है बाह्यत्वेन स्वीकृत निर्मीयमाण घट का। कल्पित घट से ही वैभिन्य का अङ्कुर फूटता है। घटनिर्माण की इच्छा में इच्छा का विषय 'घट' होता है, यहीं से पार्थक्य का प्रारम्भ होता है, अन्यथा यावदर्थजात प्रमाता का निर्विशेष रूप है, विशेषविषय यथा घट के निर्माण की इच्छा ही कल्पित 'घट' को 'पट'[2] आदि से पृथक् करता है।

प्रश्न - एषणीय (इच्छा का विषय) तो उसी समय (इच्छाकाल में) ही निर्मित होता है उसके पूर्व तो वह प्रमाता का स्वरूप हुआ नहीं रहता, अतः प्रमाता एवं इच्छाविषयभूत घट का ऐकात्म कैसे हो सकता है। प्रमाता तो पहले से ही था किन्तु घट बाद में निर्मित होता है अतः प्रकृत घट प्रमातृतादात्म कैसे हुआ ? **उत्तर-** इसलिये इच्छाविषयभूत घट प्रमातृरूप होता है कि प्रमाता की इच्छा के बिना विषय का नियन्त्रण नहीं होता कि कल्पित 'घट' है या 'पट' है या और कुछ। यह तो प्रमाता के स्वरूप के अन्तर्गत मान्य प्रमाता की इच्छा (जो कि निर्विषय नहीं होती) ही विषयविशेष का हेतु बनती है- विषय को नियन्त्रित करती है। इसके बिना विषयनियन्त्रण न हो सकेगा। इस प्रकार विषयनियन्त्रण (विषयव्यवस्था) तभी सम्भव है जब निर्मिमीषा को प्रमातृरूप माना जाये और ऐसा मानना उचित भी है क्योंकि इच्छा 'इच्छा के आधार (प्रमाता)' से भिन्न न होकर तद्रूप (प्रमातृरूप) ही होती है।

---

१. परामर्श कर्ता कुम्भकार एवं घट दोनों एक हैं क्योंकि मैं घट बनाने की इच्छा करता हूँ, यहाँ इच्छा, मैं, क्रिया एवं घट सब एक ही हैं- चैतन्य ही हैं- आत्मा ही हैं- शिव ही हैं।

२. पटेच्छा- हमारी इच्छा हमारा ही अङ्ग है अर्थात् हमारी इच्छा हम से अलग नहीं अर्थात् 'हमारी इच्छा' = 'हम'। जैसे 'हमारा हाथ' कहने से 'हाथ की गुरुता', 'हाथ का वर्ण, 'हाथ का रक्त', 'हाथ की शिरायें' सब 'हाथ' के ही अन्तर्गत हैं उसी प्रकार हमारी इच्छा हम के अन्तर्गत (हम ही) है।

जैसे हमने इच्छा की कि 'घट का निर्माण करें' तो वह इच्छा हमारा ही रूप है, हम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि और कुछ होता- भिन्न होता तो भिन्नत्वे घटेच्छा को भिन्न मानें तो वह पटेच्छा के बराबर होगी क्योंकि पटेच्छा भी तो हम से भिन्न है जो कि हुई ही नहीं है तो क्या यहाँ घटेच्छा = पटेच्छा है अर्थात् क्या घट = पट है किन्तु हम कहते हैं कि हमें घटेच्छा है उसे पटेच्छा नहीं मान सकते। कथन का निष्कर्ष यह है कि हम जिसे जानते हैं वह हमारा रूप है- वह 'हम' है।

(८)

प्रसङ्ग - प्रकृत विवेचन क्रमशः आगे बढ़ता है-

अथ तत्रापि तदानीमेव इति कृत्वा अनवस्था, तस्मात् सर्वोऽयं भावराशिः चिदात्मनि अहम् इत्येव वपुषा सततावभासुरवपुः ऐश्वर्यरूपाच्च स्वातन्त्र्यलक्षणात् स्वामिभावात् विचित्रेण वपुषा क्रमाक्रमादिना संवित् एवं बहिष्करोति प्रमातृभेदप्रथनपूर्वकम्, तत्रापि क्वचित् आभासे प्रमातॄन् एकीकरोति नितम्बिनीनृत्त इव प्रेक्षकान्। तावति हि तेषाम् आभासे ऐक्यम्। शरीरप्राणबुद्धिसुखाद्याभासांशेषु तु भेदस्य अविगलनात् न सर्वथा ऐक्यम्। अत एव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनावैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टिसंहारादिना प्रपञ्चयति। तदुक्तमाचार्येण

'सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः।।'

इत्यादि। श्री भट्टनारायणेनापि

'मुहुर्मुहुरविश्रान्तैस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः।
कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः।।'

इति। तस्मात् स्थितम् अन्तःस्थितं भावजातं- तेन विना तद्विषयस्य परामर्शस्य अयोगात् इति।।१०।।

अर्थ - और यदि विषयनियन्त्रण को न स्वीकार करके अन्य विकल्प स्वीकार करके कहा जाये कि पहले तो पटेच्छा उत्पन्न होती है और घटेच्छा का विषय पट न हो जाये एतदर्थ उसी समय (तदानींतन) द्वितीय इच्छा उत्पन्न हो जाती है जिसका विषय घट रहता है, पट नहीं। किन्तु ऐसी स्थिति में पुनः यह इच्छा तो घटेच्छा हुई किन्तु इसे भी पटेच्छा क्यों न मानें, विषयसङ्कीर्णत्व की पुनः समस्या उत्पन्न हो जाती है अतः फिर इसके पश्चात् तृतीय इच्छा उत्पन्न हुई माननी पड़ेगी जिसका भी विषय घट ही होगा। इस प्रकार पुनः पुनः एतादृशी स्थिति आती रहेगी और अनवस्था समाप्त न होगी।

इसलिए यह मानना उचित है जैसा कि प्रत्यभिज्ञादर्शन मानता है कि यह जितनी भी भावराशि है (समग्र जगत् है) चिदात्मा संविद् में अहंरूप में सदैव आभासित होती (रही है, होती) रहती है। यह उस संविद् का ऐश्वर्य (जिसका प्रमुख लक्षण स्वातन्त्र्य है फलतः जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ') है जिससे परासंविद् सतत अहंरूप में

आभासमान समग्र भावराशि को कहीं क्रमपूर्वक तो कहीं बिना क्रम के ही बाह्यरूप में प्रकट करती है। यह प्रकटीकरण वस्तुतः भेदपूर्वक होता है (प्रमाता- संविद् से भिन्नरूप में होता है, माना कि वह भावराशि है संविद्रूपा ही। यहीं से वस्तुतः शिवात्म जगत् से किञ्चिद्भिन्नरूप में प्रथित होना प्रारम्भ हो जाता है)। उन भावजातों में से कहीं पर तो प्रमातृसमूह एक हो जाते हैं जैसे नितम्बिनी (नितम्बविशेष के कारण आकर्षक प्रतीत होने वाली सुन्दरी) के नृत्त[१] में प्रेक्षकगण। नितम्बिनीनृत्तरूप आभास में तो उक्तरूपेण ऐक्य रहता है, तथापि सभी प्रमाताओं के अलग-अलग शरीर आदि आभासित होते हैं, अतः शरीर-प्राण-बुद्धि, सुख आदि आभासों में तो भेद गलता (नष्ट होता) नहीं अतः सर्वथा ऐक्य नहीं होता (आत्मभाव की प्रतीति नहीं होती)। इस प्रकार परमेश्वर (परासंविद्) ही प्रमातृगण को किसी अर्थ में एकजुट (संयोजन) कर देता है, अन्य में वियोजन कर देता है। वह विश्व की सृष्टि एवं संहार (स्वातन्त्र्येण) करता रहता है, जैसा कि आचार्य ने कहा है,

जो सदैव (जगत् के भावजात की) सृष्टि करने में विनोद किया करते हैं (आनन्द प्राप्त करते हैं), सदा जगत् की स्थितिकाल में सुखपूर्वक आसीन रहते हैं तथा सदा त्रिभुवन के आहार (संहार-विनाश) से तृप्त रहते हैं, (उन) आपको नमस्कार है, इत्यादि।

श्री नारायण भट्ट ने भी यह कहा है कि-

'पुनः पुनः असंख्य अविरत हो रही कल्पनाओं के द्वारा (जगत् की) सृष्टि कर रहे अजन्मा निर्विकल्प एक शिव विजय को प्राप्त करते हैं (प्रशंसनीय है, हम उन्हें नमस्कार करते हैं)'। अतः भावजात संविद् में ही स्थित है (संविद्रूप है), उसके बिना उस (भावजात) के परामर्श का अवसर (योग) ही नहीं है।

लीला - भावराशि = भावजात = अर्थसमूह = वस्तुजात। अयम्[२] (भावराशिः)। क्रमाक्रमादिना[३] = क्रम एवं अक्रम से। एनम्[४] = इस (भावराशि) को। बहिष्करोति[५] = **'इदन्तया भासयति'** (भास्करी, पृष्ठ २३८), ('यह' इस प्रकार 'अहम्' से भिन्नरूप में-बाह्यरूप में आभासित करती है), **ऐक्येन = 'ऐक्येन स्थितं सत् अपोहनशक्त्या भेदेन भासयति इति यावत्। कथम् ? प्रमातॄणां ग्राहकरूपाणां स्वांशभूतानां मितप्रमातॄणां**

---

१. **नृत्त** वहाँ होता है जहाँ ताल एवं लय का आश्रय लिया जाता है- **'नृत्तंताललयाश्रयात्'** (दशरूपक पर अवलोक- १.८)। रूपक एवं नृत्य से भिन्न है 'नृत्त'

२. **'अयम्' पुरो भासमानः'** (भास्करी, पृष्ठ २३८)

३. **क्रमाक्रमादिना = कार्यकारणभावे क्रमः, अन्यत्राक्रमः'** (टिप्पणीसंख्या- २६९)

४. **एनम् (बहिःकरोति) 'अहन्तया स्थितं भावराशिम्'** (भास्करी, पृष्ठ २३८)। ध्यान रहे **'राशि'** शब्द संस्कृत में पुंल्लिङ्ग है। 'एनम्' शब्द से 'भावराशि' का परामर्श होता है **'एनं भावराशिम्'** (टिप्पणीसंख्या- २७०)

५. भास्करी, पृष्ठ २३८-३९

यत्प्रथनम् अपोहनशक्त्या स्वतो भेदेन भासनम् तत् पूर्वं यत्र तत्, प्रथमं ग्राहकान् भासयति, तदनन्तरं ग्राह्यवर्गमितिभावः' (भास्करी, पृष्ठ २३८-३९) अपोहनशक्ति-स्वरूपगोपनशक्ति। शिव स्वकीय स्वातन्त्र्यशक्ति से जो स्वरूप का गोपन करता है, वह 'गोपन' ही है 'अपोहन' और शिव की वह 'गोपनशक्ति' है अपोहनशक्ति।

शरीरप्राणबुद्धिसुखाद्याभासांशेषु च भेदस्य अविगलनात् न सर्वथा ऐक्यम् = यद्यपि शरीर, प्राण, बुद्धि, सुख आदि आभासों में आत्मभाव नहीं रहता, भेद गलता नहीं- नष्ट नहीं होता अतः आत्मा एवं शरीर आदि में पूर्ण एकता नहीं स्थापित होती- आभासित नहीं होती। मैं शरीर हूँ, मैं सुख हूँ ऐसा भान नहीं भी होता है।

'विकल्प' है 'विशिष्ट एवं विभिन्नरूपता की कल्पना'। विकल्प अन्य को दूर करके एक को ग्रहण करता है। भिन्नबोध का कारण विकल्प होता है- **'विविधेन कल्पनं विशेषेण कल्पनं वा विकल्पनम्' 'विकल्प इति इच्छालक्षणो हि परामर्शः, इच्छा च वेद्यसापेक्षा तथा तदपेक्षया परामर्शस्यापि समयबलायत्तता........'** (पादटिप्पणी संख्या- २७७)

(९)

प्रसङ्ग - अभी पिछले विभाग (संख्या ८) में कहा गया है कि **'तद्विषयस्य परामर्शस्य अयोगात्'** एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (१.५.१०)- **'न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते'** यहाँ परामर्श का सङ्केत विशेषरूप से होता है। किन्तु 'परामर्श है विकल्परूप, उसकी सम्भावना निर्विकल्पशुद्ध संविद् में कैसे होगी, एतादृशी **शङ्का** को ध्यान में रखकर उसके निवारणार्थ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

ननु परामर्शो नाम विकल्पः, स च अविकल्पशुद्धसंविद्वपुषि भगवति कथं स्यात् इत्याशङ्क्याह-

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोऽपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।।११।।

इह अवभासस्य प्रकाशस्य, अनवभासस्य च अप्रकाशस्य घटादेः परस्परपरिहारेण द्वयोः त्वात्मनि चेत् व्यवस्थानं, तत् घटपटयोः इव इदमजडम् इदं जडम् इति दुरुपपादं वैलक्षण्यम्। अथ अवभासो यतोऽर्थस्य सम्बन्धी, ततो न जडः, तर्हि सम्बन्धमात्रेण मृत् अपि घटस्य इति अजडा स्यात्। अथ न स्वसम्बन्धमात्रम् अपि तु अवभासोऽर्थस्य प्रकाशः, तर्हि अर्थात्मना स प्रकाश इति समापतितम्। न च अन्यात्मना अन्यस्य प्रकाश

उपपन्नः। अथ अन्यस्वभावोपि घटोऽवभासस्य कारणम्, तर्हि अवभासोऽपि घटस्य कारणम् इति घटोऽपि अजडः स्यात्। अथ अन्येनापि सता घटेन योऽवभासस्य प्रतिबिम्बरूपा च्छाया दत्ता, ताम् असौ अवभासो बिभ्रत् घटस्य इति उच्यते, ततश्च अजडः, तर्हि स्फटिकसलिलमकुरादिः अपि एवंभूत एव, इति अजड एव स्यात्।

अथ तथाभूतमपि आत्मानं तं च घटादिकं स्फटिकादिः न परामष्टुं समर्थ इति जडः, तथा परामर्शनमेव अजाड्यजीवितम् अन्तर्बहिष्करण-स्वातन्त्र्यस्वरूपं स्वाभाविकम् अवभासस्य स्वात्मविश्रान्तिलक्षणम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वं नाम। 'अहमेव प्रकाशात्मा प्रकाशे' इति हि विमर्शोदये स्वसंविदेव प्रमातृप्रमेयप्रमाणादि चरितार्थम् अभिमन्यते न तु अतिरिक्तं काङ्क्षति, स्फटिकादि हि गृहीतप्रतिबिम्बमपि तथाभावेन सिद्धौ प्रमात्रन्तरम् अपेक्षते, इति निर्विमर्शत्वात् जडम्। सर्वं तु वस्तुतो विमर्शात्मक-प्रमातृस्वभावतादात्म्याहंपरामर्शविश्रान्तेः अजडमेव पूर्वापरकोट्योः। यदुक्तम्
'इदमित्यस्य विच्छन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्।।' इति। मध्यावस्थैव तु इदन्ताविमृश्यमानपूर्वापरकोटिः, विमूढानां मायापदं संसारः, इति विमर्श एव प्रधानं भगवत इति स्थितम्।।११।।

अर्थ - **आशङ्का** - परामर्श तो है विकल्परूप अर्थात् इच्छारूप और उस इच्छा की भला भगवान् (परम शिव) में कैसे सम्भावना की जा सकती है क्योंकि परमशिव है अविकल्प एवं शुद्धसंविद्रूप (इच्छा तो इच्छावान् को विकृत करेगी) ? ऐसी शङ्का करके (उस शङ्का के **समाधानार्थ**) कहते हैं[1]-

(परासंविद् के स्वरूप को यथार्थतः समझने वाले परासंविद् के) अवभास (प्रकाश) के स्वभाव को विमर्श के रूप में (कि वह विमर्श- अहंरूपस्वभाव है- स्वातन्त्र्य है न कि पारतन्त्र्य) जानते हैं, अन्यथा अर्थ से अपरक्त (अर्थ के प्रतिबिम्ब से युक्त) भी प्रकाश स्फटिक आदि जड (वस्तु) के सदृश (सिद्ध) होता है॥११॥

यहाँ अवभास अर्थात् प्रकाश एवं अनवभाव अर्थात् घटादि अप्रकाश यदि एक

१. **आह** = √ब्रू- लट् (प्रथम पुरुष- एक वचन)। रूप लट् के प्रथम पुरुष में'- **आह, आहतुः, आहुः।**

दूसरे को छोड़कर (परस्पर पूर्णत: असम्बद्ध होकर) दोनों केवल अपने में ही व्यवस्थित रहते हैं (एक दूसरे से किञ्चित् किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने के कारण सब प्रकार से अपने-अपने में ही सीमित रहते हैं) तो घट एवं पट की भाँति (अर्थात् जैसे 'घट प्रकाश से भिन्न-जड है' 'पट प्रकाश से भिन्न- जड है' इस प्रकार) यह प्रकाश अजड है, यह (अप्रकाश) जड है इस प्रकार (एक के अजड एवं दूसरे के जड होने के कारण) वैलक्षण्य (भेद-जड एवं चेतन में भेद कि एक अजड है और दूसरा जड) का उपपादन (उपपत्ति- सम्पादन) न हो सकेगा। और यदि यह कहा जाये कि अवभास चूँकि अर्थ से सम्बद्ध होता है इसलिये जड नहीं है, तब तो सम्बन्धमात्र से (केवल किसी के साथ सम्बन्ध होने मात्र से कोई अजड होता हो) मिट्टी (चूँकि) घट की (सम्बन्धिनी) है अत: (वह मिट्टी भी) अजड हो जाये (मिट्टी को भी अजड-चेतन माना जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता) और यदि यह माना जाये कि अर्थ से सम्बन्धमात्र ही नहीं अपितु अर्थ का प्रकाश (भी) हो सके (तो वह) अवभास (है), तब इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थ के रूप में वह अवभास प्रकाश है (अर्थात् अर्थरूप में संविद् का प्रकाश ही अवभास है) किन्तु अन्य (घट आदि) के रूप में अन्य (प्रकाश) प्रकाश बन नहीं पाता। यदि (यह कहा या समझा जाये कि प्रकाश से) अन्यस्वभाववाला (जड) घट अवभास (प्रकाश) का कारण है, (अर्थात् यदि कोई विरुद्धस्वभाववाला अपने विरोधी के अवभास का कारण होता है) तब अवभास भी घट का (घट के प्रकाश का) कारण है (अवभास घट से भिन्न स्वभाववाला है तथा घट के प्रकाश का कारण है, तब घट भी प्रकाश हो जाये- घट को भी प्रकाशरूप चैतन्य मानना होगा)। पुनश्च यदि घट अवभास से भिन्न है (अन्येनापि सता घटेन) और चूँकि अवभास को प्रतिबिम्बरूप छाया को (घट) ने दिया, उस छाया को धारण करता हुआ वह अवभास घट का है (घट की छाया- प्रतिबिम्ब धारण करने के कारण अवभास को 'घट का' कहा जाता है) फलत: (ततश्च = तत्सम्बन्धत्वेन, वह घट) अजड-प्रकाशस्वरूप है। तब तो चूँकि स्फटिक (संगमरमर आदि पत्थर), जल, मकुर (दर्पण) आदि भी ऐसे ही हैं (प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाले हैं) अत: अजड-चेतन मान्य होंगे।

परन्तु यदि यह माना जाये कि स्फटिक आदि (स्फटिक- सलिल- मकुर आदि) उस प्रकार के (प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाले) होने पर भी अपने को (स्फटिक आदि को और उस घट आदि को (जिसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है उसको) अनुभव करने में समर्थ नहीं है इसलिए जड है, क्योंकि चैतन्य का प्राणभूत (लक्षण) है उस प्रकार का (जिसका प्रतिबिम्ब हो उसका एवं स्वयं का) परामर्श (अनुभव, बोध) यही स्वातन्त्र्य, अर्थजात को अपने भीतर विलय करना जिसे 'अन्त:करण' कहेंगे और अन्त:स्थित भावजात को बाह्यरूप से प्रकट करना जिसे **'बहिष्करण'** कहेंगे, इन दोनों (उक्तरूप

अन्तःकरण एवं बहिष्करण में होने वाले) स्वातन्त्र्य को **'चैतन्य'** कहेंगे। यह स्वातन्त्र्य परमशिव-संविद्-चैतन्य में स्वाभाविक होता है। चैतन्य का यही स्वातन्त्र्य है- स्वरूप में अवस्थान- अपने स्वरूपावस्थान के लिए अर्थात् अन्तःकरण बहिष्करण के सम्पादन में किसी अन्य के सहारे न रहना। इसलिए किसी का मुँह नहीं जोहना होता (**अनन्यमुखप्रेक्षित्वम्'**)। 'प्रकाशस्वरूप मैं ही प्रकाशित हो रहा हूँ' ऐसी चेतना (स्वबोध) के उत्पन्न होने पर स्वसंविद् (ज्ञानस्वरूप स्वकीय चेतना अर्थात् व्यक्ति) ही (स्वयं को) प्रमाता (बोद्धा), प्रमेय (ज्ञेयवस्तु) एवं प्रमाण (प्रमात्मक ज्ञान का कारण) समझता है, न कि (यहाँ उक्त विमर्शकाल में) अतिरिक्त (स्वभिन्न प्रमाता) की इच्छा करता है (कि उक्त बोध में किसी अन्य व्यक्ति की सहायता अवश्य होने के कारण उसकी सहायता ली जाये)। (जब कि) प्रतिबिंम्ब को ग्रहण किये हुये (जिस पर घट आदि विषय का प्रतिबिम्ब पड़ चुका हो अर्थात् प्रतिबिम्ब से युक्त होने वाले) स्फटिक (काँच) आदि (यथा जल, दर्पण आदि) उस प्रकार सिद्ध होने में (विमर्शोदये- विमर्श होने में- विमर्शरूपसिद्धि में) दूसरे प्रमाता (स्फटिकादिभिन्नप्रमाता) की अपेक्षा करता है, इस प्रकार (वह स्फटिकादि) विमर्शहीन (स्वबोध की क्षमता से रहित) होने के कारण जड है। वस्तुतः सब (प्रत्येक अर्थ) विमर्शरूप प्रमाता के साथ तादात्म्य होने के कारण (उस प्रत्येक अर्थ की) 'अहम्' (मैं) इस परामर्श (बोध) में विश्रान्ति (परिणति) होने के कारण पूर्व (सभी ज्ञानों के आरम्भ होने के पूर्व) एवं अपर (बाद- फल समाप्ति होने पर, ज्ञानोत्पत्ति हो जाने पर) दोनों कोटियों में, अजड (प्रकाशस्वरूपचैतन्यरूप) ही रहता है।

'इदम्' (यह) इस प्रकार जिस (अर्थ) का विमर्श (अहंबोध) विच्छिन्न (कट गया) है, उस (अर्थ) की जो अपने स्वरूप को प्राप्त करना रूप विश्रान्ति है- 'मैं वह हूँ' ऐसा विमर्श है।' किन्तु (उन पूर्व एवं अपरकोटि के) मध्य की अवस्था है इदन्ता ('इदम्' के भाव से युक्त होना, 'अहम्' ऐसा विमर्श न होकर 'इदम्' दृष्टि होना), जिसमें पूर्व एवं अपर कोटि (अहंविषयकोटियों) का विमर्श नहीं होता[१] (अविमृश्यमान), यही (अवस्था) मूढ लोगों का संसार है जो 'माया' पद से सङ्केतित होता है, इस प्रकार परेश की सर्वप्रधान (लक्षण, तत्त्व, स्वरूप) विमर्श ही है, यह सिद्ध (स्थिर) होता है।

लीला - प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन में जड एवं चेतन सभी कुछ परमेशरूप है-

१. इसे भी देखें-

'यथा न योगिनोऽस्तीह नानासैन्यशरीरकैः।। ३६

विभागस्तद्वदीशस्य मध्योत्कृष्टनिकृष्टकैः।

भावैर्नास्ति विभेदत्वमथवाम्बुधिवीचिवत्।। ३७।।'

तथा आगे भी　　(शिवदृष्टि- ३.३६-३७)

संविद्रूप है। उसी परमेश से यह द्विविध जगत्- जड एवं चेतन उत्पन्न होता है[1]। वही इन दोनों का निमित्त एवं उपादान कारण है। परमेश प्रकाश एवं परामर्शरूप है। प्रकाश वस्तुजात को प्रकाशित तो कर सकता है किन्तु उसमें ज्ञान करने या कराने का सामर्थ्य व्यावहारिक जगत् में नहीं देखा जाता है। 'विमर्श' है 'अहंबोध' रूप या 'यह मैं हूँ' 'मुझे ज्ञान हो रहा है' एतद्रूप।

यह बतलाया जा रहा है कि अवभास-आभास है प्रकाशरूप और घट है **अप्रकाशरूप** (क्योंकि घटादि जड माना जाता है- प्रकाशरूप नहीं माना जाता)। अतः **अवभास** (प्रकाश) और घटादि (अप्रकाश) हुये विरोधी। यदि दोनों पूरी तरह से एक-दूसरे से अलग-थलग रहते हैं, उनका परस्पर कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं, दोनों अपने-अपने में ही सीमित रहते हुये स्थित रहते हैं तो इन दोनों को अर्थात् अवभास और घट को हम उस तरह अलग-अलग नहीं कह सकते या समझ सकते जैसे घट और पट को। हम कहते हैं कि 'यह घट इस पट से अलग है' किन्तु यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि 'प्रकाश (आत्मा, जीव, प्रमाता) अजड है और घट है जड'। अर्थात् अवभास और घट में हम भेद नहीं कर पायेंगे। क्यों नहीं भेद कर पायेंगे ? कारण यह है कि कि हम घट को घटत्वेन समझते हैं और पट को पटत्वेन, अतः अलग-अलग समझते हैं। किन्तु जब प्रकाश (आत्मा) एवं अप्रकाश (घट) को एक दूसरे से पूर्णतः असम्बद्ध मानेंगे तो घट को समझेंगे ही कैसे ? समझा उसे ही जायेगा जो किसी प्रकार सम्बद्ध हो। यहाँ सम्बन्ध एक ही बन सकता है तादात्म्य रूप, फलतः यहाँ पूर्ण ऐक्य है अर्थात् जो प्रमाता है वही घट है। अन्यथा पूर्णतः भिन्न होने का (असम्बन्ध होना) सम्बन्ध मानना होगा। वह तो वस्तुतः कोई सम्बन्ध ही न बन सकेगा। इसलिये प्रत्यभिज्ञादर्शन मानता है कि वस्तुत; प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमा सब एक हैं- कर्ता, कर्म, करण सब एक हैं[2]।

आशङ्का - जो अर्थ का सम्बन्धी होता है वह जड नहीं होता अर्थात् अजड होता है। **समाधान** - तब तो मिट्टी को भी अजड मानना पड़ेगा क्योंकि मिट्टी (मृत्) भी घट से सम्बन्ध रखने वाली होती है। पुनः **आशङ्का** - सम्बन्ध का अर्थ केवल 'सम्बन्ध' नहीं बल्कि अवभास का अर्थ है 'अर्थ के रूप में प्रकाश' अर्थात् अवभास चूँकि अर्थ के रूप में होता है (अर्थात् अवभास का विषय अर्थ होता है)- वह अर्थ के रूप में प्रकाशित होता

१. इस प्रकार अनवभास भी आभास का ही रूप है। निम्ब के बीज से उत्पन्न हुये वृक्ष में नीम का मूल, तना, फूल, पत्ती, फल सबमें निम्बत्व रहता है अर्थात् मूल पत्र आदि सभी में निम्बत्व धर्म है- सभी निम्ब हैं। उनमें परस्पर वैलक्षण्य नहीं होता। इसी प्रकार अवभास एवं अनवभास में वैलक्षण्य नहीं होता। जडता कहीं नहीं (**न तथा जडता क्वापि-** शिवदृष्टि- ३.४१) सब प्रकाशस्वरूप ही है।

२. **'शिव कर्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः'** शिवदृष्टि- ७.१००)

है अत: आशङ्का पूर्ववत् रही। **समाधान** - प्रकृत स्थिति में अर्थ और अवभास एक (-रूप) ही है क्योंकि कोई (यथा अवभास) अपने से भिन्न (अवभास से भिन्न रूप में प्रकाशित नहीं हो सकता। अत: अवभास और घट में (इस अंश में) एकरूपता है (कि घट भी अवभासरूप है- घट भी परेशरूप है- संविद्रूप है- प्रकाशरूप है- प्रकाशभिन्न नहीं)।

प्रश्न - घट और अवभास का स्वरूप असमान होता है- पृथक् होता है, फिर भी घट को कारण माना जाता है, अवभास का क्योंकि घटात्मा अवभास माना गया है। 'घटावभास' में दोनों है घट एवं अवभास - **घटात्मना अवभास:, अवभासरूपो घट:**। उक्तरूपेण विचार करने पर तो अवभास को घट का कारण मान्य होगा और इस प्रकार घट को अजड मानने की आपत्ति होगी। **उत्तर** - ऐसा नहीं। घट ने अवभास को चँकि अपनी छाया (प्रतिबिम्ब) दिया और अवभास ने उस छाया को धारण कर लिया, इसीलिए कहा जाता है- अवभास है 'घट का'। चँकि 'घट का' है अवभास, इसीलिये अवभास से सम्बद्ध होने के कारण घट को अजड मानना होगा। **आक्षेप** - तब तो[१] स्फटिक, सलिल और मकुर भी तो (घट आदि की) छाया ग्रहण करके सम्बन्धवान् होते हैं तो एतादृश सम्बन्ध के कारण इन स्फटिक आदि को भी अजड मानने की आपत्ति होगी।

'अहमेव प्रकाशात्मा प्रकाशे' ('प्रकाशस्वरूप मैं ही प्रकाशित होता हूँ। अर्थात् मैं प्रकाशस्वरूप हूँ और केवल मैं ही प्रकाशित होता हूँ)। कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि मैं ही सब कुछ है।- प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति सब एक (मैं) ही है[२]। प्रकाश-बोध (स्फुरण) धर्म मेरा ही है अथवा मैं ही हूँ, मुझसे पर कुछ नहीं[३]। सारांश यह है कि जब कोई कुछ जानता है तब वस्तुत: ज्ञानस्वरूप शिव स्वयं को ही जानता है, उसे अपना ही बोध होता है- यही स्वबोध (स्वयं को जानना, जानने वाला) है विमर्श।

अहमेव प्रकाशात्मा प्रकाशे' वाक्य का सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता। सम्भव है यह किसी आचार्यविशेषरचित सन्दर्भयोग्य (किसी पुस्तक में प्राप्य) वाक्य न हो, तथापि यह

---

१. **'एवंभूत: प्रतिबिम्बरूपां छायां बिभ्रत्'** (भास्करी, पृष्ठ २४२)

२. (i) **'तेन ज्ञेयमेकमेव वस्तु भिन्ने ग्रह: कुत:।'** (शिवदृष्टि- ४.८३)

(ii) **'यदि निर्विमर्श: स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत'** (क्षेमराजकृत पराप्रावेशिका, पृष्ठ २)

(iii) **'यद्यदयं जीव: संवेत्ति तत्तदस्य शरीरमेव संपद्यते, न तु नियतशिर:पाण्याद्यवयव-संनिवेश एव'** (स्पन्दकारिका, निष्यन्द ३.३ पर रामकण्ठविवृत्ति)

(iv) **'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।**
तस्यानावृतरूपत्वान्न विरोधोस्ति कुत्रचित्।।' (स्पन्दकरिका- १.२)

३. **'मत: परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** (गीता- ७.७)

शैवाद्वैतप्रत्यभिज्ञासिद्धान्तसम्मत वाक्य है।

'इदमित्यस्य ...... सोऽहमित्ययम्' उद्धरण का सन्दर्भ अज्ञात है। मूढों के लिए मध्यावस्था जिसमें वस्तुओं का इदन्तया बोध होता है, संसार है, जो (संसार) माया के अन्तर्गत है। मध्यावस्था में पूर्व एवं अपर कोटि ('अहम्) का बोध नहीं होता जो कि वस्तुतः यथार्थ है।

वस्तुतः यह सम्पूर्ण जगत् शिवरूप है- अहंरूप है। जो जगत् की वस्तुजात को 'अहम्' पद से सङ्केतित न करके **'इदम्'** पद से सङ्केतित किया जाता है वहाँ विमर्श (अहंभाव) विच्छिन्न (टूटा-कटा-अप्रकाशित) रहता है और उसकी कृतार्थता तो विमर्श- 'सोऽहम्' इस अहंभाव में ही होती है। 'इदम्' बोध के पूर्व 'शिव' में 'अहंभाव' ही था और 'इदम्' - बोध के पश्चात् जब समग्रजगत् शिव में संहत हो जाता है तब भी सब 'अहंभाव' रूप रहता है। केवल बीच में 'इदन्ता' रूप भाव रहता है। वस्तुतः परमार्थ तो है 'अहंभाव' जो गीता (२.२८) में-

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवता।।' कहा गया है। इससे प्रकृत को समझने में कुछ सहायता मिल सकती है।

(१०)

***प्रसङ्ग* -** संवित्तत्त्व विमर्शप्रधान है अर्थात् आत्मा का सारभूत तत्त्व है चैतन्य (स्वातन्त्र्य)। स्वबोध या किसी प्रकार का बोध उसी का उसी के द्वारा होता) है, इसलिये चेतन आत्मा को 'चेतन' न कहकर अन्य दार्शनिक (यथा योगसूत्रकार पतञ्जलि) भी 'चैतन्य' (चेतन का धर्म- स्वातन्त्र्य) कहते हैं। अभिप्राय यह है कि संवित् का सर्वस्व 'विमर्श' ही है, यह बात प्रत्यभिज्ञादर्शन में तो स्पष्ट कही ही गई है अन्य दर्शनों में भी यह भाव दिखलाई देता है जिससे प्रत्यभिज्ञा के इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है-

न केवलं संवित्तत्त्वस्य अस्माभिः एव विमर्शप्राधान्यम् उक्तम् यावत् आगमान्तरैरपि इति दर्शयति

आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता।
तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स विलक्षणः।।१२।।

यतो विमर्श एव प्रधानम् आत्मनो रूपम् अमुमेव हेतुं प्रयोजनरूपम् उद्दिश्य आत्मा धर्मिस्वभावो द्रव्यभूतोऽपि, चैतन्यम् इति धर्मिवाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यम् आश्रित्य उदितः कथितः, भगवता शिवसूत्रेषु

'चैतन्यमात्मा'' १-१ इति पठितम्, चैतन्यम् इति हि धर्मवाचकोपलक्षणम्, 'चितिशक्तिरपरिणामिनी'

'.........तद्दृशेः कैवल्यम्।' (यो.सू. २-२५)

'द्रष्टा दृशिमात्रः..........' (यो. सू. २-२०)

इत्यादौ अपि हि धर्मशब्देन सामानाधिकरण्यम् आत्मनो दर्शितम् गुरुणा अनन्तेन। द्रव्यं हि तत् उच्यते- यद्विश्रान्तः पदार्थवर्गः सर्वो भाति च अर्थ्यते च अर्थक्रियायै, तत् यदि न कुप्यते तत् सकलोऽयं तत्त्वभूतभावभुवनसंभारः संविदि विश्रान्तः तथा भवति इति। स एव गुणकर्मादिधर्माश्रयभूतपदार्थान्तरस्वभावः तामेव मुख्यद्रव्यरूपाम् आश्रयते इति सैव द्रव्यम्, तत् अनन्तधर्मराशिविश्रमभित्तिभूतायाः तस्याः स एव धर्मः चैतन्यम् इति कर्तृकृदन्तात् उत्पन्नेन भावप्रत्ययेन संबन्धाभिधायिनापि प्राधान्येन दर्शितः, तथाहि संबन्धस्य संबन्धिविश्रान्तस्य प्रतीतेः, द्रव्यरूपस्य च संबन्धिनः प्रकृत्या उक्तत्वात् चितिक्रियारूपं धर्मं संबद्धम् अवगमयता ष्यञा निष्कृष्टः एव अंशः प्रत्यायितो भवति। चितिक्रिया च चितौ कर्तृता, स्वातन्त्र्यं संयोजनवियोजनानुसंधानादिरूपम् आत्ममात्रतायामेव जडवत् अविश्रान्तत्वम् अपरिच्छिन्नप्रकाशसारत्वम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् इति, तदेव अनात्मरूपात् जडात् संयोजनवियोजनादिस्वातन्त्र्यविकलात् वैलक्षण्यादायि इति, तदेव परत्वेन प्रधानतया अभिसंधाय, आत्मा चेतन इति वक्तव्ये धर्मान्तराधरीकरणाय विमर्शधर्मोद्धुरीकरणाय च 'आत्मा चैतन्यम्' इत्युक्तम्। चितिक्रिया चितिकर्तृता तात्पर्येण इति समासः अर्धयुक् पादविश्रान्तिः इति हि काव्ये समयः, न शास्त्रे। यदि वा चित् क्रिया आत्मा उदितः, चितिकर्तृता च, इति पृथगेव। एवं तु न क्वचित् पठितम्।।१२।।

अर्थ - संवित्तत्त्व को हम (प्रत्यभिज्ञाशैवमतावलम्बी) लोगों ने ही 'विमर्शप्रधान' नहीं कहा है, जबकि ऐसा अन्यशास्त्रकारों ने भी कहा है[1] यह तथ्य (कारिकाकार) दिखलाते हैं-

---

१. 'सर्वेण तावत् वादिना.......संविद्रूपम् ....आदिसिद्धम् हि तत् इति उक्तम्' (विभागसंख्या ३)

(यत: आत्मा विमर्शप्रधान है) अत एव 'आत्मा' उन (योगसूत्रकार पतञ्जलि) के द्वारा चैतन्यरूप क्रिया अर्थात् 'चेतन का कर्ता होना' इस तात्पर्य के कारण (**चित्क्रियाचितिकर्तृतातात्पर्येण**) चैतन्य कहा गया (उदित:) है। (वह आत्मा) जड से विलक्षण (विरुद्धधर्मा, भिन्नस्वभाववाला) है॥१२॥

चूँकि (आत्मा में) आत्मा का रूप (अर्थात्) विमर्श ही प्रधान है। इसी हेतु (कारण) को प्रयोजनरूप में उद्देश्य करके ही (अत: एव), माना कि वैसे आत्मा का स्वभाव धर्मी होना है (आत्मा धर्मी-चेतन है, उसमें 'चैतन्य'-रूप धर्म है) वह द्रव्य (धर्माश्रय) हुआ रहता भी 'चैतन्य' इस धर्मवाची[1] शब्द के साथ सामानाधिकरण्य का सहारा लेकर कहा गया है (आत्मा उदित:। अर्थात्) भगवान् (शिव) के द्वारा शिवसूत्रों में 'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र- १.१) इस प्रकार (सूत्र) पढ़ा गया है। 'चैतन्य' (यह शब्द तो) धर्मवाचक का (भी) उपलक्षण (लक्षणया बोधक या बोधक) है। पतञ्जलि गुरु ने **'चितिशक्तिरपरिणामिनी', '.......तद्दृशेः कैवल्यम्'** (योगसूत्र- २.२५) एवं **'द्रष्टा दृशिमात्रः......'** (योगसूत्र- २.२०) इत्यादि में भी आत्मा का धर्मशब्द (शक्ति, दृशि) के साथ सामानाधिकरण्य दिखलाया है।

द्रव्य तो वही कहा जाता है जिसका आश्रय लेकर सम्पूर्ण वस्तुसमूह प्रकाशित होता है तथा व्यवहार (की सम्पन्नता) के लिये चाहा जाता है, तो यदि आप क्रुद्ध न हों (यदि आपको कोई आपत्ति न हो- आप बुरा न माने तो मैं कह सकता हूँ कि) तो संविद् के (ही) आश्रित होकर तत्त्वों, महाभूतों, भौतिकपदार्थों एवं संसारों का यह समस्त समूह वैसा (अपने स्वभाव को प्राप्त) होता है। वही (**स एव = तत्त्वभूतभावभुवनसंभार एव**) गुण, कर्म आदि धर्म एवं आश्रय (धर्मी)-रूप विविध पदार्थ जिसका स्वभाव है वही (स: एव = तत्त्वभूतभावभुवनसंभार: एव) उसी (ताम् एव) मुख्य द्रव्यरूप (आत्मा) का आश्रय लेता है इसलिये वही (स एव) द्रव्य है (अर्थात् मुख्यरूप से द्रव्य तो वही- आत्मा है) और चूँकि अनन्त धर्मराशि के आश्रय की मूलस्थलीरूप उस (संविद्) का वही (स एव) धर्म (स्वातन्त्र्य- जिसके कारण संविद् का संवित्त्व है- सामर्थ्य है) चैतन्य है अत: कर्ता अर्थ में विद्यमान कृत् प्रत्यय 'यु' जिसके अन्त में है ऐसे (√चित्+ल्युट्) 'चेतन' (इस प्रातिपदिक शब्द) से भाव अर्थ में विहित **ष्यञ्** (चेतन+**ष्यञ्** = चैतन्य) प्रत्यय, जो कि सम्बन्ध का भी अभिधान करता है, के द्वारा प्रधानरूप से (वही चैतन्य धर्म = स एव धर्मः चैतन्यम्) दिखलाया गया है। स्पष्टरूप में इस प्रकार समझें (तथाहि)- चूँकि द्रव्यरूप सम्बन्धी (चेतन) प्रकृति के द्वारा (चैतन्य = 'चेतन+ष्यञ्' यहाँ 'चेतन' है प्रकृति एवं 'ष्यञ्' है प्रत्यय) कथित होता है अत: 'चिति' ('चित्' धातु का अर्थ जानना, पहचानना

---

१. पाठान्तर **'धर्मिवाचिना'**

कर्म) क्रियारूप धर्म का सम्बन्ध (चेतन से है ऐसा) समझाने वाला 'ष्यञ्' प्रत्यय (चेतन से उसके क्रियारूप धर्म को- चैतन्य को) निकाले हुये अंश (भिन्नरूप से निकाले- अलग किये हुये चैतन्य पदार्थ अर्थात् स्वातन्त्र्य) का बोध कराता है। ('चित्क्रिया' है चिदर्थ अर्थात् 'चितिक्रिया' = 'चेतन का कर्तृत्व') 'चितिक्रिया' शब्द का अर्थ है 'चिति' अर्थात् 'चेतन में कर्तृत्व धर्म' (कर्तृता) अर्थात् स्वातन्त्र्य, जिसका स्वरूप है संयोग करना, अलग अलग करना एवं अनुसन्धान (स्मरणात्मक बोध) आदि, यदि (स्वातन्त्र्य को) स्वयं में सीमित मानेंगे तो जड पदार्थ के सदृश होगा अत: वह स्वात्ममात्रविश्रान्त (केवल अपने में ही सीमित) नहीं होता, असीमितप्रकाशरूपसार, उसे स्व से इतर अन्य का मुख नहीं जोहना होता है। यह अनात्मकरूप जड से विलक्षणता को ग्रहण करता है क्योंकि जड में संयोजन-वियोजन आदि का स्वातन्त्र्य नहीं रहता अत: उसे ही उत्कृष्ट होने के कारण प्रधानरूप से लेकर 'आत्मा चेतन है' ऐसा कहना उपयुक्त होने पर अन्य (नित्यादि) धर्मों को निम्नस्थानीय (हीन, अपकृष्ट) सूचित करने के लिए तथा विमर्श (स्वातन्त्र्य) धर्म को केन्द्रीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए **'आत्मा चैतन्यम्'** (अर्थात् **'चैतन्यमात्मा'**) ऐसा (शिवसूत्रों में भगवान् शिव के द्वारा) कहा गया है। **'चित्क्रियाचितिकर्तृता-तात्पर्येण'** यह समास (समस्त पद) है (क्योंकि 'श्लोक के) आधे में (एक भाव या पदों का) योग (अन्वय) रहता है और पाद (श्लोक के चरण) में विराम (यति) होता है' यह (नियम) काव्य (के ग्रन्थों) में होता है न कि शास्त्र (दर्शनशास्त्र आदि) में अथवा यदि 'चित्क्रियाचितिकर्तृता' का अन्वय इस प्रकार चाहें कि 'चित्क्रिया आत्मा उदित: चितिकर्तृता च' (चैतन्य की क्रिया आत्मा कही गई और चेतन का कर्ता होना धर्म चैतन्य है' ऐसा भिन्न पदयोग का विकल्प कोई प्रस्तुत करे तो ऐसा कहीं भी नहीं पढ़ा गया है॥१२॥

लीला- आत्मा ('चेतन द्रव्य', संविद् तत्त्व) में विमर्श (स्व एवं स्वेतर का बोध, कर्तृत्व, स्वातन्त्र्य आदि) ही प्रधान है यह बात प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्यों ने तो कही ही है (**उक्तम्**)। **'उक्तम्'** का अर्थ है 'शास्त्रोक्त'- रूप में उक्त तथ्य स्वीकार किया गया है, किसी आचार्य की स्वेच्छितकल्पनामात्र पर आधृत नहीं है यह बतलाने के लिये यहाँ **'उक्तम्'**[1] पद का प्रयोग किया गया है।

आगमान्तर (अन्य आगमों अर्थात् शास्त्रों) ने भी आत्मा में विमर्श को ही प्रधान माना है, यथा 'योगशास्त्र' के रचयिता भगवान् पतञ्जलि ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है, जैसा कि उनके सूत्रों से प्रतीत होता है।

जहाँ तक प्रत्यभिज्ञादर्शन की बात है स्वयं शिवसूत्रों (जिन्हें दैवी आगमशास्त्र

---

१. **'स्वकपोलकल्पितत्वमत्र निरस्यति उक्तमित्यनेन'** (टिप्पणीसंख्या- २९५)

माना जाता है) में भगवान् शिव ने आत्मा को चैतन्य बतलाया है[१]। वस्तुतः आत्मा को चेतन कहना चाहिये। उस चेतन का धर्म है चैतन्य। यहाँ धर्मी (चेतन, आत्मा) को चैतन्य कहकर यह बतलाया गया है कि आत्मा (चेतन) का सर्वस्व है स्वातन्त्र्य अर्थात् चैतन्य। चैतन्य को भी स्वातन्त्र्य कहा गया है जो आत्मा की इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप है। आत्मा की कर्तृत्व आदि शक्ति ही वस्तुतः आत्मा का सर्वस्व है। क्रियावान् (शक्तिवान्) एवं क्रिया (शक्ति) में भेद ही क्या है[२]। क्रियावान् का प्राण है क्रिया। आत्मा की क्रिया है आत्मा का कर्तृत्वधर्म- **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थत्व**। परमात्मा का स्वातन्त्र्य है- विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार में स्वातन्त्र्य। जगत् की सृष्टि में उसे उपादान की भी आवश्यकता नहीं रहती[३]- **'स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति** (प्रत्यभिज्ञाहृदय- २)। इसी प्रकार जगत् की स्थिति एवं संहार में भी परेश निरपेक्ष है- स्वेतरसापेक्ष नहीं।

आत्मा (संविद्) धर्मी है- द्रव्य है तथापि उस (आत्मा) का सामानाधिकरण्य धर्म शब्द के द्वारा किया गया प्राप्त होता है, जैसा कि योगसूत्रकार पतञ्जलि के सूत्रों में प्राप्त होता है। यहाँ सूत्रांश रूप में दिये गये तीन उद्धरण प्राप्त होते हैं। उनमें आत्मा[४] के साथ तद्धर्मवाचक शब्दों का सामानाधिकरण्य देखा जा सकता है। तथापि यहाँ उद्धरणरूप में जो अंश प्राप्त होते हैं उन पर विचार कर लेना आवश्यक होगा-

(१) **'चितिशक्तिरपरिणामिनी'** (आत्मा जो कि चितिशक्ति है अर्थात् आत्मशक्ति है, उसमें परिणाम नहीं होता, फलतः आत्मा में परिणाम नहीं होता)। यहाँ आत्मा (द्रव्य) को चितिशक्ति (धर्म) कहा गया है। **'चितिशक्ति'** एवं **'अपरिणामिनी'** में सामानाधिकरण्य है। शेषविचार 'उद्धरणकोष' में देखें।

(२) **'........तद्दृशेः कैवल्यम्'** (योगसूत्र- २/२५ का एक अंश। (......ज्ञानस्वरूप पुरुष को कैवल्य होता है। यहाँ पुरुष अर्थात् आत्मा (द्रव्य, धर्मी) को ज्ञान (धर्म) स्वरूप कहा गया है। अभिप्राय यह है कि यहाँ भी आत्मबोधक शब्दका तद्धर्मबोधक पद के साथ सामानाधिकरण्य गम्य है। शेष विचार उद्धरणकोश में देखें।

३. **'द्रष्टा दृशिमात्रः ....'** (योगसूत्र- २.२०)

---

१. **'चैतन्यमात्मा'** (शिवसूत्र- १.१)
२. (i) **'शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।'** (शिवदृष्टि- ३/३)
(ii) **'शक्तिशक्तिमतामुक्ता सर्वत्रैव ह्यभेदिता।'** (शिवदृष्टि- ३/६५)
३. **'निरुपादनसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने।।'** (वसुगुप्त)
४. यहाँ 'आत्मा' से तात्पर्य समझें 'आत्मवाचक शब्द'। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ सकते हैं।

सम्पूर्णसूत्र इस प्रकार है- **'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः'**। अर्थ (द्रष्टा अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है-.....' यहाँ आत्मा (धर्मी) को ज्ञान (धर्म) कहा गया है। इस प्रकार धर्मिवाचक शब्द का धर्मवाचक शब्द के साथ सामानाधिकरण्य स्थिर होता है। शेष विवेचन उद्धरणकोश में देखने का कष्ट करें। अनन्त = पतञ्जलि[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा का सर्वस्व है विमर्श- स्वातन्त्र्य, अतः आत्मा को उस (आत्मा) में विद्यमान प्रधान धर्म के द्वारा प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं आगमान्तरों में भी सङ्केतित किया गया है। आत्मा द्रव्य है- धर्मी है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थ द्रव्यके आश्रित होकर ज्ञात होते हैं तथा व्यावहारिक जीवन में भी द्रव्य के ग्रहण होने पर ही वे सब गृहीत होते हैं और वस्तुतः बात ऐसी है कि आत्मा ही सर्वप्रमुख द्रव्य माना जाना चाहिए। ऐसी मान्यता में किसी अन्य विचारधारा वाले व्यक्ति को क्रोध नहीं करना चाहिये। शान्त मन से विचार करने पर ऐसा लगता है कि आत्मा ही सभी तत्त्वों महाभूतों[२], भावों[३] (भौतिक पदार्थों) एवं भुवनों (संसारों) के समूह का आश्रय है। आत्माश्रित होकर ही उक्त पदार्थ सत्तावान् हो पाते हैं। आत्मा के माध्यम से ही हम उन्हें समझ पाते हैं, उनका अनुभव करते हैं, उनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं, उनको काम में लाते हैं। द्रव्य,गुण, कर्म आदि समस्त अर्थजात उस संवित् (आत्मा) के ही आश्रित रहते हैं अतः आत्मा (संविद्) ही मुख्य द्रव्य हुआ। और इसलिये उसी संविद् का धर्म है 'चैतन्य' जिसके द्वारा संविद् अर्थात् आत्मा का सङ्केत किया जाता है। इसीलिये गीता में लिखा गया है- **'सर्वधर्मान् परित्यजय मामैकं शरणं व्रज।'**[४] आत्मा- (परमात्मा) ही सबका आधार है, अतः उसी की शरण में जाकर कल्याण होता है।

यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'चैतन्य' अर्थ का बोध 'संविद्' के लिए किस प्रकार होता है अर्थात् आत्मा (द्रव्य) को 'चैतन्य' धर्म कैसे समझा जाता है। वस्तुतः आत्मा है चेतन। 'चेतन' शब्द की निष्पत्ति '√चित्+ण्वुल्' से हुई है। यहाँ **'चित्'** है धातु और **'ण्वुल्'** है प्रत्यय जो कर्ता अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'चेतन' शब्द का अर्थ है ज्ञान करने वाला, क्रिया करने वाला, अनुसन्धान करने वाला आदि। 'चेतन' शब्द से भावार्थक 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ने पर **'चेतन+ष्यञ्'** = चैतन्य शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः 'चैतन्य' शब्द का अर्थ हो जाता है 'ज्ञान करने वाले की क्रिया (कर्तृता)', 'क्रिया

---

१. देखें टिप्पणी संख्या २९८
२. **'भूतानि महाभूतानि'** (भास्करी, पृष्ठ २४६)
३. **भावाः भौतिकानि'** (भास्करी, पृष्ठ २४६)
४. (i) श्रीमद्भगवद्गीता (१८/६६)
(ii) देखें भास्करी, पृष्ठ २४६-४७

करने वाले- कर्ता की क्रिया (कर्तृता)' तथा 'अनुसन्धान (स्मरण) करने वाले की क्रिया (कर्तृता)'। 'भाव' से सम्बन्ध का बोध होता है। सम्बन्ध सम्बन्धी से होता है। 'चेतन+ष्यञ्' यहाँ प्रकृति **'चेतन'** (शब्द, धर्मी) शब्द से सम्बन्धी का कथन हो चुकता है और धर्म (चित्क्रिया अर्थात् 'चित् में रहने वाली क्रिया 'चितिक्रिया' का सम्बन्ध उस (चेतन द्रव्य) से होता है यह 'ष्यञ्' समझाता है। 'ष्यञ्' प्रत्यय इस धर्म को द्रव्य से निकालकर अलग बता देता है कि यह चेतन का निकाला गया विशिष्ट- सारभूत धर्म है और वह धर्म है 'चैतन्य'। तभी तो वह (चैतन्य होने के कारण) 'चेतन' कहा जाता है। मीठे पदार्थ का सर्वस्व 'मिठास', 'उष्ण' पदार्थ का प्रधान धर्म है 'उष्णता' एवं 'चेतन' का सर्वप्रधान धर्म है 'चैतन्य'। मिठास के बिना किसी पदार्थ को 'मीठा' नहीं कह सकते, उष्णता के बिना कोई 'उष्ण' नहीं हो सकता और चैतन्यशून्य वस्तु 'चेतन' नहीं हो सकती। अतः भावप्रत्यय से वस्तु का सारतत्त्व सङ्केतित होता है।

कर्तृता का अर्थ है स्वातन्त्र्य **'स्वतन्त्रः कर्ता'**[१]। स्वातन्त्र्य है- (१) **संयोजन** (मिलाना, संयोग करना, एक को दूसरे से जोड़ना)- (२) वियोजन (अलग करना, एक को दूसरे से अलग करना) (३) **अनुसन्धान** (पुनः स्पर्श करना, पुनः संहित करना, स्मरण करना, ज्ञान करना)।

अकेले (किसी धर्म से) अपने में ही अपना संयोजन, वियोजन एवं अनुसन्धान नहीं हो सकता। अपने में ही सीमित पदार्थ जड होता है, जैसे घट। घट न तो संयोजनरूप है न वियोजनरूप और नहीं अनुसन्धानरूप[२]। उसमें संयोजन, वियोजन एवं अनुसंधान की क्षमता नहीं है, जो कि चैतन्य में होती है- चेतन में होती है। घट की सीमा बस अपने में (उसी घट तक में) रहती है। किन्तु चेतन आत्ममात्र में विश्रान्त नहीं होता- उस (आत्मा) की सीमा स्वयं वही (आत्मा) नहीं है। वह अपना अनुसन्धान करता है और आत्मेतर का भी, यतः वह स्वतन्त्र है। उसका प्रकाश उसका धर्म सीमित नहीं। संसार की प्रत्येक वस्तु (सभी पदार्थ) आत्मा से प्रकाशित होते हैं, वह किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता अपने कर्तव्यव्यापार में । एतादृश आत्मा का ही यह धर्म चैतन्य है। ध्यान रहे चेतन को चैतन्य इसीलिये कहते हैं।

आत्मा एवं अनात्म में यही विलक्षणता (असमान लक्षण होना, भिन्नता, विरुद्धधर्मत्व) है। उक्तरूपेण चैतन्य के प्राधान्य के कारण ही चेतन को 'चैतन्य' कहते हैं। जबकि कहना चाहिये 'आत्मा चेतन है' हम कहते हैं 'आत्मा चैतन्य है'। शिवसूत्र ने कहा **'चैतन्यमात्मा'**

---

१. अष्टाध्यायी- १/४/५४

२. 'जडवत् ....' का अर्थ है **'यथा जडः स्वात्ममात्रनिष्ठः संयोजनवियोजनादि-स्वातन्त्र्यरहितः नैवात्मा इत्यर्थः'** (टिप्पणीसंख्या ३११)

अर्थात् **'आत्मा चैतन्यम्'**। माना कि आत्मा के विभुत्व, नित्यत्व[१] आदि अन्य धर्म भी हैं तथापि सर्वप्रमुख धर्म जिसके आधार पर आत्मा (चेतन) को 'चैतन्य' कहा जाता है, 'चैतन्य' ही है अतः अन्य धर्म को गौण स्थान प्राप्त है ऐसा दिखलाने के लिए तथा 'चैतन्य' सर्वप्रमुखधर्म है ऐसा प्रदर्शित करने के लिये आत्मा को चेतन न कहकर 'चैतन्य' कहा गया- धर्ममुखेन धर्मी का सङ्केत किया गया है। **'विमर्शधर्म+उदधुरीकरणाय'** = 'स्वातन्त्र्य' (विमर्श) धर्म को उद्धुर (दृढ, परिपूर्ण, योग्य) करने के लिये।

यहाँ कारिका में 'चित्क्रिया' 'चितिकर्तृता' एवं 'तात्पर्येण' इन तीनों पदों को मिलाकर एकसमस्त पद **'चित्क्रियाचितिकर्तृतातात्पर्येण'** का प्रयोग है। अतः यह भ्रान्ति दूर कर देनी चाहिये कि "कारिका में **'आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता'** यहीं पर पाद की विश्रान्ति (पूर्णता) हो गई- अतः इसका प्रमुख अन्वय इसी श्लोकार्ध में प्रयुक्त पदों में होगा" क्योंकि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' यह शास्त्र (दर्शन) का ग्रन्थ है, साहित्य (काव्य) का नहीं, जिसमें उक्त नियम कृतकार्य हो। कथन का अभिप्राय यह है कि यहाँ साहित्यग्रन्थ (काव्य) में मान्य इस नियम का पालन करना आवश्यक नहीं माना जा सकता कि 'आधी कारिका के साथ ही (द्वितीय) पाद की समाप्ति हो जाती है अतः श्लोक के पूर्वार्ध का अन्त पद (सुबन्त या तिङन्त) से होना चाहिये, न कि समस्त पद के पूर्व या मध्यवर्ती किसी पद से[२]।

प्रस्ताव- कोई व्यक्ति कह सकता है कि कारिका के अर्थ करने में उक्त समस्या आई, जिसका समाधान **'....इति हि काव्ये समयः, न शास्त्रे'** कहकर किया गया है। यदि यहाँ कारिका का अर्थ करते समय **'चित्क्रिया आत्मा उदितः, चितिकर्तृता च'** (चैतन्यरूप क्रिया आत्मा कहा गया है और चेतन का कर्तृत्वभाव अर्थात् चैतन्य आत्मा कहा गया है) इस प्रकार यहाँ 'उदितः' पद के साथ 'चित्क्रिया' एवं 'चितिकर्तृता' का अलग-अलग अन्वय करने से काम चल जायेगा। उक्त समस्या न उत्पन्न होगी।

---

१. (i)**"धर्मान्तराधरीकरणाय नित्यत्वाद्यन्यधर्मगौणीभावापादनाय'.......**" (भास्करी, पृष्ठ २४८)

(ii) **'धर्मान्तरं नित्यत्वादि'** (टिप्पणी संख्या ३१४)

२. (i) **'ननु कथमयं समासः संभवति न हि पूर्वार्धस्योत्तरार्धेन सम्बन्धः क्वापि दृश्यते इत्यत आह 'अर्थ' इति। अर्धयुक्–अर्धे योगः, न तु परार्धेन सह पूर्वार्धस्य योगः। पादविश्रान्तिः- पादे विश्रान्तिः- विरामः, शास्त्रे-शिवप्रणीतादौ'** (भास्करी, पृष्ठ २४९)

(ii) डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय का अनुवाद यहाँ इस प्रकार है- 'Citkriyā-chitikartrtā-tātparyeṇa' is one compound. For the rule 'Every quarter of a verse should be self-contained' is applicable to poetry only and not to philosophy.' (Bhāskarī Vol III, page 72)

(प्रस्ताव का) **प्रत्याख्यान-** ऐसा पाठ कहीं भी नहीं मिलता, मात्र कल्पना पर आधृत प्रस्ताव को नहीं स्वीकार किया जा सकता। कथन का अभिप्राय यह है कि **'चित्क्रिया आत्मा'** ऐसा पाठ किसी भी आचार्य ने नहीं माना है, ऐसी व्याख्या किसी ने नहीं की है[1]।

(११)

प्रसङ्ग - शङ्का- प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों ही आत्मस्थ हैं तब आत्मस्थत्वेन 'प्रकाश' कहने पर 'अप्रकाश' भी गृहीत होता है। इस प्रकार 'प्रकाश' (= अप्रकाश) 'जड' रूप में मान्य हुआ। प्रकाश जड से विलक्षण नहीं हो पाया। विमर्श भी आत्मरूप है, अविमर्श भी। तब आत्मस्थत्वेन 'विमर्श' कहने पर 'अविमर्श' भी गृहीत होना चाहिये। तब जड (अविमर्श, घटादि) एवं 'विमर्श' (आत्मा, संविद्) में अन्तर ही नहीं हो पाता है।

शङ्का का निराकरण- उक्त शङ्का के निवारणार्थ[2] **'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा.....'** आदि कारिका उपस्थित की जा रही है-

ननु यथा प्रकाशोऽप्रकाशश्च इति उभयमपि स्वात्मनि, ततश्च प्रकाश इति उक्ते जडात् न वैलक्षण्यम् उदितं स्यात्' तद्वत् विमर्शोऽपि च स्वात्मनि, इति तेनापि कथं वैलक्षण्यं जडाजडयोः इत्याशङ्क्याह-

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।१३।।

चेतयति इत्यत्र या चितिः चितिक्रिया तस्याःप्रत्यवमर्शः स्वात्मचमत्कारलक्षण आत्मा स्वभावः, तथा हि- घटेन स्वात्मनि न चमत्क्रियते स्वात्मा न परामृश्यते न स्वात्मनि तेन प्रकाश्यते न अपरिच्छिन्नतया भास्यते ततो न चेत्यत इति उच्यते। चैत्रेण तु स्वात्मनि अहमिति संरम्भोद्योगोल्लासविभूतियोगात् चमत्क्रियते, स्वात्मा परामृश्यते स्वात्मन्येव प्रकाश्यते इदमिति यः परिच्छेद एतावद्रूपतया तद्विलक्षणीभावेन नील-पीत-सुख-दुःख- तच्छून्यताद्यसंख्यावभासयोगेन आभास्यते, ततः चैत्रेण

१. (i) **'चित्क्रिया आत्मा इति कुत्रापि न पठितम्'** (टिप्पणी संख्या - ३१८)
(ii) 'This is an interpretation which is not found any where' (Dr. K.C. Pandey, Bhāsharī vol. III, page 72)

२. **'शङ्का'** तथा उसका **'निवारण'** व्याख्या में स्पष्ट किया गया है।

चेत्यते इति उच्यते। एवं च विमर्शः स्वात्मनि अविमर्शोऽपि स्वात्मनि इत्यसिद्धमेतत्।

अर्थ - आशङ्का - जैसे प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों ही आत्मा में हैं और उससे (दोनों के आत्मस्थ होने पर) 'प्रकाश' कहने पर उसका जड से वैलक्षण्य नहीं कथित हो पाता है उसी प्रकार 'विमर्श' भी और अविमर्श भी (दोनों) आत्मा में (आत्मस्थ) हैं अत: उस (आत्मस्थ विमर्श) के द्वारा भी (आत्मस्थत्वेन) जड (घटादि) एवं अजड (आत्मा) में किस प्रकार वैलक्षण्य हो पायेगा ?

शङ्का का निवारण - उक्त एतादृशी शङ्का का निवारण करने के लिए (**'चितिः'** आदि कारिका को कारिकाकार) कहता है (आह[1]) -

चिति है स्मरण करने वाले का सर्वस्व। यही परावाक् है जो स्वभाव से (जगत् की सृष्टि आदि के रूप में) उदित (आदि होती रहती है। (यह) वह स्वातन्त्र है जो परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है॥१३॥

'चिति' शब्द की व्युत्पत्ति है **'चेतयति' इति चितिः'**। 'चिति' धातु का अर्थ है 'स्मरण करना, चिन्तन करना, विचार करना' अर्थात् एतादृशी क्रिया और एतादृशी क्रिया का प्रत्यवमर्श (जो स्वभावत: स्मरण करता हो, स्मरण) करे (आदि)। विशेष इस प्रकार समझें- घट अपने में चमत्कृत नहीं होता अर्थात् अपना परामर्श (स्मरण, बोध) नहीं करता, अपना प्रकाश नहीं करता (स्वत: प्रकाशित नहीं होता), वह अपरिच्छिन्न (अपनी सीमा-विस्तार को प्राप्त करके, अपनी सीमा में न रहकर, अपनी इयत्ता का संवर्धन करके ही) प्रकाशित (ज्ञात) नहीं होता, इसलिये कहा जाता है- **'घटेन न चेत्यते'** (घट के द्वारा स्मरण- स्व एवं स्वातिरिक्त का, चिन्तन- स्व एवं स्वातिरिक्त का आदि नहीं किया जाता, अर्थात् **'न चेत्यते तेन इति स न चेतनः'**)। (किन्तु चैत्र की स्थिति इससे- घटरूप अचेतन से- विपरीत है)। 'मैं' इस प्रकार कुछ करने में सप्रयास होने के विशिष्ट वैभव से युक्त होने के कारण वहाँ एक प्रकार का चमत्कार रहता है अर्थात् चैत्र अपना परामर्श (ज्ञान, स्मरण, बोध करता है), स्वयं अपने का स्मरण (बोध) करता है **'अहं'** रूपेण अर्थात् चैत्र के स्मरण (आत्मबोध) का विषय **'इदम्'** (यह) नहीं होता अपितु **'इदम्'** से विलक्षण **'अहम्'** होता है। यद्यपि चैत्र नील, पीत, सुख, दु;ख एवं नीलादि से शून्य अनन्त अवभासों से सम्बद्ध रहता है तथापि उसे अपना बोध होता है अत: कहा जाता है **'चैत्रेण चेत्यते'** (अथवा **'चैत्रः चेतयते इति चेतनः'**)

अत: यह सिद्ध नहीं होता कि विमर्श एवं अविमर्श दोनों अपने में- आत्मविषयक होते हैं अर्थात् यह नहीं सिद्ध होता कि **'यथा विमर्शः स्वात्मनि एवम् अविमर्शोऽपि स्वात्मनि भवति'**।

---

१. **आह** = √ब्रू (परस्मैपद+लट् लकार - 'प्रथम पुरुष, एक वचन'

लीला - परमशिव मूल-स्वावस्था में जो भी हो, जैसा भी हो, 'अहंरूप हो या कुछ ऐसा ही हो' किन्तु संसारावस्था या विकासावस्था में वह ज़डचेतनात्मक ही है। शिव का एक रूप है चेतन, अपर रूप है अचेतन। यह अचेतन है प्रकाशरूप तथा अप्रकाशरूप भी। सूर्य, अग्नि, दर्पण आदि हैं प्रकाशरूप और घट-पट आदि हैं अप्रकाशरूप। किन्तु चेतन है विमर्शरूप क्योंकि उसे 'अहम्' का बोध होता है, अपना अहसास होता है। वह स्वतन्त्र है- क्रिया करने में समर्थ है।

परमशिव (में) इस चेतनाचेतन का मूलरूप है। वह भी प्रकाशविमर्शरूप होगा। यद्यपि वह निरंश है तथापि हम स्थूलक्रम के अनुसार उसमें अंश की कल्पना करते हैं- द्वित्व का ज्ञान कर लेते हैं; जैसे इच्छा, ज्ञान, क्रिया वस्तुत: एक ही है तथापि हम कार्यवशात् बहुत्व की कल्पना कर लेते हैं। अचेतन में तो प्रकाशत्व एवं अप्रकाशत्व दोनों बन जाते हैं क्योंकि उनका प्रकाश हो जाता है- उनका आभास हो जाता है। किन्तु चेतन में 'अविमर्श' कैसे- चेतन अविमर्शरूप कैसे हो सकेगा ? 'विमर्श' कहने से 'अविमर्श' का ग्रहण न हो सकेगा आधार को लेकर। विमर्श के आधार (या विमर्शरूप) चेतन में अविमर्श नहीं रहेगा। **'ब्राह्मणोऽहं' 'गौरोऽहम्'** यहाँ यद्यपि अध्यास- मिथ्याज्ञान है तथापि 'अहम्' का बोध तो होता है किन्तु आत्मत्वेन नहीं होता 'ब्राह्मणत्वेन' आदि होता है, जबकि ब्राह्मण उपाधि है।

प्रकाश के आधार (या प्रकाशरूप) अचेतन में अप्रकाश रह सकता है तथापि प्रकाश का आधार अचेतन कोई प्रकाशाधार हो सकता है कोई अप्रकाशाधार हो सकता है या कोई अचेतन प्रकाशरूप (अग्नि, सूर्य, दर्पण) हो सकता है कोई अप्रकाशरूप (घट, पट) किन्तु कोई चेतन विमर्शधर्मशून्य नहीं हो सकता- अविमर्शरूप नहीं हो सकता। सभी चेतनों में अपना बोध होता है। वृक्ष भी दु:खी होते हैं - दु:ख का स्वत: अनुभव करते हैं। अनुभव या दु:खी होना स्वत: ही होगा। इसी प्रकार वृक्ष सूख जाते हैं- प्रफुल्ल नहीं होते खाद, पानी, प्रकाश के अभाव में। क्षुद्र जीवों की तो बात ही क्या ?

'घट प्रकाशित हो रहा है' में जो जाना जाता है मात्र घट है। वह केवल घटरूप में जाना जाता है- घट उसकी सीमा है (स्वात्मनि) और घट अप्रकाशित (अज्ञात) है- घटाप्रकाश मात्र (स्वात्मनि) का भी 'प्रकाश' होता है। इस प्रकार प्रकाश के अन्तर्गत प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों आ जाते हैं। 'प्रकाश कहने पर 'अप्रकाश' भी गृहीत हो जाता है।

स्वलक्षण निर्विकल्पक है। स्वात्म सभी विकल्पशून्य हैं अत: विकल्पशून्यत्वेन सभी स्वात्म समान हैं- अत: **'प्रकाशोऽप्रकाशश्च उभयमपि........त्वात्मनि[1]...... न वैलक्षण्यम् उदितं स्यात्'** यह कथन समीचीन प्रतीत होता है।

---

१. **'स्वात्मनि स्थितं भवति नत्वन्योन्यं प्रति वैलक्षण्यापादकं भवति निर्विकल्पत्वात् भेदापादनस्य च विकल्पकार्यत्वात्।'** (भास्करी, पृष्ठ २५०)

परन्तु 'विमर्श' से क्या 'अविमर्श' का ग्रहण होता है ? कभी नहीं। हम नहीं कह सकते कि 'हम इस समय अपने को नहीं जान पा रहे हैं' 'मुझे अपना बोध नहीं है'। यह वैसे ही है जैसे कोई कहे 'हमें जगाओ नहीं, हम सोये हुये हैं, जाग नहीं रहे हैं' या 'मेरे मुख में जीभ नहीं है' या 'मैं जीवित नहीं हूँ' 'मुझे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं है।

शिव एक है, आत्मा एक है तथा उसमें अनेक धर्म अनेक सम्भावनायें अनेक वैचित्र्य अनेक अचिन्त्य वैशिष्ट्य हैं। वह एक अनेकरूप में विकसित होता है। विकास के रूप अपनी शक्तिरूप में अनन्त हैं किन्तु यह नहीं कह सकते कि 'सूक्ष्मरूप में अनन्त हैं' या 'सूक्ष्म रूप में जगत् है'। वटबीज में शक्तिरूप में महाद्रुम है- फल, फूल हैं, न कि सूक्ष्मरूप में। ऐसा नहीं कि बीज महावटवृक्ष का सूक्ष्मरूप है अपितु वटबीज का विकास हो तो वह वृक्ष के रूप में परिणमित हो सकता है[१]। इस समय उसमें सूक्ष्म डालें या फल नहीं हैं अपितु शक्तिरूपेण हैं- वह उनको उत्पन्न कर सकने में- (भविष्य में) समर्थ है। शिशु में सूक्ष्मरूप में सन्ततिजनन का सामर्थ्य इस समय (शैशवावस्था में) नहीं है। कालान्तर में सन्ततिजनन में सामर्थ्य हो सकेगा जैसे वह शक्ति- जननशक्ति कालान्तर में उत्पन्न होगी, इस समय नहीं है।

इस समय शक्ति का अभाव शिशु एवं घट दोनों में है परन्तु शिशु में यह सामर्थ्य है कि कालान्तर में वह समर्थ होगा- शक्तिमान् होगा, घट नहीं। वस्तुत: जहाँ अपने में अपने को समझें- अपने रूप में (अहंरूप से) प्रकाशन हो वहाँ है विमर्श किन्तु जहाँ प्रकाशन इदंतया हो वहाँ अविमर्श होगा। हम किसी कार्य को प्रारम्भ करने में (यथा, घटग्रहण करने में) किये जाने वाले उद्योग (प्रारम्भ) में एक उल्लास का अनुभव करते हैं। किन्तु हमारे द्वारा हाथ से अव्यवधानेन घट का ग्रहण सम्भव नहीं है। घट में क्रिया हाथ से की किन्तु हाथ में क्रिया किससे की ? करसमवेत क्रिया कैसे हुई ? किससे हुई ? जिससे हुई वही यह क्रिया आत्मक्रिया है। यह क्रिया हस्त में होने वाली क्रिया को उत्पन्न करती है किन्तु स्वयं है सूक्ष्म क्रिया यह क्रिया सारल्येन देखी-समझी नहीं जा सकती। यह है inert action - अक्रियारूप क्रिया, शान्त क्रिया, सुप्त क्रिया। यह क्रिया भौतिक नहीं है। यह विलक्षण क्रिया है, frozan action है। जैसे बीज से द्रुम वैसे इस क्रिया से भौतिक क्रिया। जैसे बीज में शक्तिद्रुम वैसे है इस क्रिया (अथवा यों कहें कि तत्त्व) में शक्तिक्रिया। इस क्रिया को 'स्पन्द' कहना उपयुक्त होगा जिसका (प्रतिष्ठित स्पन्द का लक्षण है-

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः।।'[२]

---

१. **'यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।**
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।'

२. स्पन्दकारिका- २/६

(१२)

प्रसङ्ग - विमर्श, प्रत्यवमर्श, परावाक्, स्वातन्त्र्य आदि के स्वरूपनिरूपण-सहित प्रकृत का व्याख्यान-

विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं- स्वभावः। प्रत्यवमर्शश्च अन्तरभिलापात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेत-निरपेक्षमेव अविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम् अकारादिमायीयसांकेतिकशब्दजीवितभूतं, नीलम् इदम्, चैत्रोऽहम् इत्यादिप्रत्यवमर्शान्तरभित्तिभूतत्वात्, पूर्णत्वात् परा, वक्ति विश्वम् अपलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्, अत एव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सततम् अनस्तमिता नित्या अहमित्येव, एतदेव परमात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यम् ऐश्वर्यम् ईशितृत्वम् अनन्यापेक्षित्वम् उच्यते। परापरं तु इदंभावरूपस्य प्रत्यवमर्शस्य अख्यातिप्राणस्य- उद्बोधमात्रेऽपि अहंभाव एव विश्रान्तेः श्रीसदाशिवादिभूमौ पश्यन्तीदशायाम्। अपरं तु इदं भावस्यैव निरूढौ मायागर्भाधिकृतानामैव विष्णुविरञ्चेन्द्रादीनाम्, तत्तु एषां परमेश्वरप्रसादजमेव इति। अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यं, चैतन्यं च। तस्मात् युक्तमुक्तम् '.....तेन जडात्स हि विलक्षणः' इति।।१३।।

अर्थ - विमर्श सर्वसह[1] है। इसका ऐसा स्वभाव है कि पर (दूसरे) को भी अपना (स्वयम् - स्व को, अहंतारूपेण) बना देता है (पूर्व अविमर्श भी विमर्श हो जाता है), अपने को पर बना देता है, दोनों (पर एवं अपर) को एक कर देता है, एक बनाये गये दोनों (पर एवं अपर) को महत्त्वहीन बना देता है। (**'अहं'**पदबोध्य नहीं बनाता)। प्रत्यवमर्श है आन्तरिक व्यक्त वाग्रूप एवं शब्द करते रहना इसका स्वभाव है। यहाँ शब्द से सङ्केतग्रह नहीं होता, (वह शब्देन) निरन्तर (सतत) अहंबोधरूप है, भीतर मुख होने के कारण जैसे सिर हिलाकर (स्पष्ट शब्द के द्वारा सङ्केत न करके) जिससे निर्देश किया

---

१. सब कुछ सहन करने वाला अर्थात् सभी स्थितियों में रहने वला, प्रायः सब प्रकार का, **'सर्वसहः न तु प्रकाशत्वाद् बाह्यप्रतिबिम्बमात्रसमर्थः'** (भास्करी, पृष्ठ २५२)।

जाता हो, (ऐसा है शब्दन) लौकिक अकार आदि सांकेतिक शब्दों के कारण है (शब्दन) नीलम् इदम्, चैत्रोऽहम्' इत्यादि प्रत्यवमर्श तथा अन्य बाह्य एवं आन्तर (वस्तुओं को विषय बनाने वाले विकल्परूप) प्रत्यवमर्शों का आधारभूत[१]- रूप में स्थित होने के कारण (फलतः परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है)।

परावाक् - इसे ही (प्रत्यवमर्श को ही) पूर्ण होने के कारण **परा**[२], और **'वक्ति** (बतलाती है, कहती है, सङ्केत करती है) **विश्वम्** (संसार का)' अर्थात् चूँकि विश्व को बतलाती है अतः इसे 'वाक्' (**वक्ति इति वाक्**) कहते हैं और इसीलिये (पूर्णवचनरूप होने के कारण) यहाँ अहंभावरूप स्वरस (आत्मानन्द) एवं चिद्रूप होने के कारण केवल 'अहं' विषय में ही विश्राम होता है, यह भाव सदा बना रहता है- चलता है- अस्त कभी नहीं होता। यही (प्रत्यवमर्शरूप परावाक्) परमात्मा का मुख्य स्वातन्त्र्य है जिसे ऐश्वर्य, ईश्वरभाव (**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्व**) एवं (अपने द्वारा जगत् आदि की सृष्टि किये जाने में) किसी (अन्य) की अपेक्षा न होने का धर्म या भाव अर्थात् **अनन्यापेक्षित्व** (विद्वानों के द्वारा) कहा जाता है। परापरवाक् श्रीसदाशिव आदि भूमि में पश्यन्ती दशा में स्थित रहती है। यहाँ 'इदंभाव' रूप में बाह्य का परामर्श होता है (कि) जो अहंस्वरूप के अज्ञानजन्य स्वरूपगोपन पर आश्रित रहता है। कथित परामर्श के उद्‌बोध होने मात्र पर भी अहंभाव में विश्रान्ति होना यहाँ की विशेषता है। अपरा वाक् होती है मायागर्भ के अधिकारी- विष्णु, ब्रह्मा एवं इन्द्र में। इन (विष्णु आदि) में इदन्ता की विश्रान्ति होती है। इन (विष्णु आदि) का वह (ऐश्वर्य) तो परमेश्वर की कृपा से मिलता है (ऐश्वर्य की प्राप्ति में उनका परमुखापेक्षित्व है)। वस्तुतः अनन्यनिरपेक्षता ही परमार्थः आनन्द है। वही ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य और चैतन्य है। इसीलिये (कारिका संख्या १/५/१२ में) उचित कहा कया है **'......तेन जडात्स विलक्षणः'।।१३।।**

लीला - विमर्श है 'अहंबोध' जो सर्वसह है- सब को सहन करता है- अनेक परिस्थितियों में पाया जाता है जो 'अहम्' के अहंभावेन' बोध-रूप में तो होता ही है, कहीं कहीं या कहें बहुत्र इससे भिन्न परिस्थितियों में भी होता है, यथा-

(१) **परमपि आत्मीकरोति** - बोध में दूसरे को अहंरूप में ग्रहण करता है- 'इदम्' को 'अहंरूप' में ग्रहण[३]। अथवा, जब किसी पर भूत चढ़े और वह इस प्रकार अनुभव

---

१. **'नीलमिदम् चैत्रोऽहम्' इत्यादीनि प्रत्यवमर्शान्तराणि– अन्ये बाह्यान्तरवस्तुविषयाः विकल्परूपाः प्रत्यवमर्शाः, तेषां निमित्तभूतत्वात्' – आधारतया स्थितत्वात्'** (भास्करी, पृष्ठ २५३)

२. **'पृ- पालनपूरणयोः इति धातोर्व्युत्पन्नोऽयं शब्दः'** (टिप्पणीसंख्या- ३३३)

३. **'परम् इदन्तापरम्'** (टिप्पणीसंख्या- ३२७)

करे कि 'मैं अमुक बरगद के पेड़ पर रहने वाला यक्ष हूँ'[१]।

(२) **आत्मानं च परीकरोति**- यदि चैत्र स्वयं ऐसा अनुभव करे कि 'मैं चैत्र नहीं हूँ'[२] अथवा जब कोई व्यक्ति आत्मा को और कुछ समझता हो तब निश्चित ही अपने को स्वेतर समझता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' यहाँ अपना (स्वयं का) परीकरण (शरीरीकरण) है[३]।

(३) **उभयम् एकीकरोति** - इसका उदाहरण 'य एव वटयक्षः स एवाहम्' (जो वटयक्ष है वही मैं हूँ) दिया जा सकता है[४]। यहाँ उभय (पर-वटयक्ष एवं अहम् दोनों) को एक कर दिया गया है।

(४) **एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति** - अभी एकीकरण का उदाहरण दिया गया था 'य एव वटयक्षः स एवाहम्' किन्तु एतादृश एकीकरण को महत्त्व न देना प्रकृत का उदाहरण होगा। जैसे, चैत्र कहे- **'अहं चैत्रोऽपि नास्मि यक्षोऽपि नास्मि[५]'** (मैं चैत्र भी नहीं हूँ और यक्ष भी नहीं हूँ')।

इस जगत् की स्थिति देखकर द्रष्टा व्यक्ति इसकी सृष्टि एवं प्रलय को भी मानने लगता है। दार्शनिकगण जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार (प्रलय) को मान्यता प्रदान करते हैं। जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? क्यों हुई ? किससे हुई ? इत्यादि प्रश्नों की उद्भावना एवं उत्तर दर्शन देता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण एक परमशिव ही है अतः जगत् भी शिवरूप ही है[६]- **'यदन्तस्तद् बहिः'**[७]- जो भीतर था वही बाह्यरूप में स्थिति को प्राप्त कर रहा है। यह द्युलोक, पृथ्वी, वायु, सूर्य, सागर, सरिता एवं दिशायें आदि यावत् 'पदार्थ' बाह्यरूप में स्थित परमशिव के अन्तःकरण के तत्त्व ही हैं-

''द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिताः[८]।।''

---

१. **'परमप्यात्मीकरोति, भूतावेशसमये इत्यर्थः, तत्र हि अहम् अमुकवटस्थो यक्ष इत्यादिज्ञानमनुभूयते'** (भास्करी, पृष्ठ २५२)
२. **'नाहं चैत्रोऽस्मि' इति भावः** (भास्करी, पृष्ठ २५२)
३. **'....तदा अवश्यमेवात्मनः परीकरणम्'** (टिप्पणी ३२८)
४. **''उभयमपि एकीकरोति 'य एव वटयक्षः स एवाहम्' इति''** (भास्करी, पृष्ठ २५२)
५. देखें भास्करी पृष्ठ २५२
६. (i) **''''''। भेदा अपि तदात्मकाः। .....। एवं व्यवस्थानस्वभावत्वात् तस्य परमेश्वरस्य नानारूपेऽपि विश्वस्मिन् सत्यतैवेति।'** (शिवदृष्टि १/४९ पर उत्पलदेव की वृत्ति)
(ii) **'न सावस्था न या शिवः'** (स्पन्दकारिका- ३/२)
७. **रामकण्ठकृता स्पन्दकरिकाविवृत्ति**- २/७-८, पृष्ठ ७६
८. रामकण्ठविरचितस्पन्दकारिकाविवृति में उद्धृत (स्पन्दकारिका- ४/२१, पृष्ठ १६४)

पदार्थ तो पद 'के' अर्थ होते हैं- वाणी (वाक्) के अर्थ होते हैं अर्थात् एक दृष्टि से यह समस्त अर्थजात जो हमें जगद्रूप में प्रतीत होता है वाक् ही है- वाक् ही था। परमशिव स्थिति में वाक् एवं अर्थ में अभेद रहता है। तब उस वाक् को हम परावाक् कहते हैं। इसी परावाक् को शक्ति, संविद्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य आदि कहा जाता है। वाक् परम सूक्ष्म सविकल्पशून्य, एक तत्त्व, मात्र 'अहं' परामर्शस्वरूप- विमर्शरूपा है। वाक् की चार कोटियाँ (स्तर, रूप) मानी जाती हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। प्रत्यभिज्ञा एवं व्याकरण में ये प्रभेद स्वीकृत हैं तथापि उनके स्वरूप में अन्तर भी है।

यह परावाक् प्रत्यवमर्श-रूप है। प्रत्यवमर्श क्या है ?

प्रत्यवमर्श - यह आन्तर शब्द एवं व्यक्त वाक् है, न कि कुक्कुट के शब्द की भाँति अव्यक्त शब्द। परा ही आन्तर है। मध्यमा की मध्यम भाव में स्थिति है। पश्यन्ती एवं वैखरी तो अपेक्षाकृत अधिक बाह्य हैं[१]। 'परा' है तो शब्दरूप किन्तु सङ्केतनिरपेक्ष, सतत चमत्काररूप[२]- अद्‌भुतबोधरूप। मायीय अकारादि शब्दों को इसी से प्राण (जीवन) प्राप्त होता है। 'इदम्' एवं 'अहम्' बोध इत्यादि का आधार यही है। यह प्रत्यवमर्शवृत्ति से बोलती है- बोध (स्वबोध) रूप में बोलती है, उच्चारण के द्वारा नहीं[३] बोलती।

यहाँ विमर्शिनी में 'वाक्' को **परा**, **परापर** एवं **अपरा** भेदों में विभक्त किया गया है। 'परापरं तु..........' के पूर्व 'परा' का विवेचन सम्पन्न हुआ, **'परापरं तु....... पश्यन्तीदशायाम्'** इतनी व्याख्या 'परापर' प्रभेद की है। 'परापरा वाक्' - पश्यन्ती दशा में परापरवाक् होती है। पश्यन्ती विश्व के उन्मेष की द्वितीय कोटि है। चूँकि पश्यन्ती स्वयं में समस्त विश्व को देखती है (**पश्यति**) इसलिये इसे **'पश्यन्ती'** कहते हैं- **'पश्यतीति पश्यन्ती'**। यह अन्तःकरण एवं बाह्यकरणों की सरणि से भी उत्तीर्ण दशा है[४]। पश्यन्ती की स्थिति श्री सदाशिव आदि की भूमि में है। यहीं परापर वाक् विराजमान होती है। यहाँ परामर्श होता है 'इदम्' रूपेण जिसका कारण है स्वरूप का गोपन तथापि

---

१. **'आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः'** की व्याख्या इस प्रकार है- **'आन्तरश्च तत्- बाह्ये मध्यमाभावे न स्थितम्, न तु पश्यन्तीपदमारूढं वैखरीभावं वा पतितम्, आन्तरत्वे तु पराभावेन स्थितम्, अभिलापात्मकम्- व्यक्तवाग्रूपम्, न तु कुक्कुटादिरुतवत् अव्यक्तिम्, शब्दनम्- शब्दोच्चारणं सः स्वभावः यस्य तादृशः'** (भास्करी, पृष्ठ २५२)

२. **''चमत्कारः - 'चमतो भुञ्जानस्य करणं संरम्भः, 'अहमसौ नीलदिभोक्ता इति चमत्कारः''** (टिप्पणी संख्या ३३१)

३. **अपलपति प्रत्यवमर्शेन 'प्रत्यवमर्शवृत्त्या न तु उच्चारणवृत्त्या इत्यर्थः'** (भास्करी, पृष्ठ २५३)

४. **'पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिरपि यदुत्तीर्णा।
तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता।।'**

एतादृश परामर्श उद्‌बुद्‌ध तो होता है किन्तु आश्रय लेता है 'अहं' भाव में। अर्थात् यहाँ विमर्श का प्रारम्भ तो क्षणभर के लिये होता है 'इदन्ता' रूपेण किन्तु उसकी विश्रन्ति 'अहंता' में होती है। सदाशिव तत्त्व में 'अहंता से आच्छादित इदन्तामय विश्व' का विमर्श होता है[१]। लौकिक उदाहरण के लिए अकठोरगर्भा महिला के विमर्शविशेष को लिया जा सकता है। अकठोरगर्भा महिला तादृश गर्भ को क्षण भर के लिये 'इदम्' मानते हुये भी उसको 'अहम्' के ही अन्तर्गत मानती रहती है।

अपरावाक्- माया के क्षेत्र (गर्भ) में अधिकारप्राप्त विष्णु, ब्रह्मा एवं इन्द्रादि[२] दिग्पाल (इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर) में अपरावाक् होती है। इन विष्णु आदि की 'इदन्ता' में ही विश्रान्ति[३] होती है। इन्हें जो भी ऐश्वर्य प्राप्त हुआ रहता है ईश्वर की कृपा के द्वारा ही होता है। वस्तुतः इनका अपना कोई सामर्थ्य नहीं होता है[४]।

(१३)

प्रसङ्ग - 'चैतन्य, परेशशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य आदि अभिधानों से बोध्य तत्त्व की मान्यता प्रधान आगमों- विविध दार्शनिक ग्रन्थों में भी सुलभ है' इस तथ्य की समीक्षा की जा रही है-

प्रधानागमेष्वपि एतत् प्रदर्शितमेव इति निरूपयति-

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।१४।।

इह घटः कस्मात् अस्ति, खपुरुषं च कस्मात् नास्ति, इति उक्ते वक्तारो भवन्ति, घटो हि मम स्फुरति, न तु इतरत् इति, तत एतत् घटत्वमेव यदि स्फुरत्त्वं स्फुरणसम्बन्धः, तत् सर्वस्य स्फुरेत् न कस्यचिद् वा, तस्मात् मम स्फुरति इति कोऽर्थः। मदीयं स्फुरणं स्पन्दनम् आविष्ट इति। स्पन्दनं च किञ्चित् चलनम्, एषैव च किञ्चिद्रूपता- यत् अचलमपि चलम् आभासते इति, प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते, अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति इति। तत उक्तम्

---

१. **'सदाशिवतत्त्वेऽहंताच्छादितास्फुटेदन्तामयं......विश्वम्'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय- ३)
२. **'इन्द्रग्रहणेनात्र तदिच्छानुवर्तिनः सर्वे लोकपालाः मन्तव्याः'** (टिप्पणी संख्या- ३३९)
३. **'निरूढौ- विश्रान्तौ'** (भास्करी, पृष्ठ २५४)
४. **'न एषां स्वसामर्थ्यं किञ्चित् इति द्योतितम्'** (टिप्पणीसंख्या ३४०)

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।'

इति। तथा

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः।।'

(स्प. २२)

इति।

'......स्पन्दतत्त्वविविक्तये' (स्प. २१) इति।

'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः........।' (स्प. १९)

इति च। लोकेऽपि विविधवैचित्र्ययोगेऽपि स्वरूपात् अचलन् जनो गम्भीरः स्पन्दवान् इति उच्यते। सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। सा च खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति इति महती, देशकालौ नीलादिवत् सैव सृजति इति ताभ्यां विशेषणीया न भवति, यत् किल येन तुल्यकक्ष्यतया भाति तत् तस्य विशेषणं– कटक इव चैत्रस्य।

अर्थ - प्रधान आगम-शास्त्रों में भी यही (कि विष्णु विरञ्चि आदि का स्वयं का अपना सामर्थ्य नहीं है, जब कि संविद् का है) दिखलाया है, इसी तथ्य का निरूपण (कारिकाकार) करते हैं-

वह (परावाक्) देश एवं काल से विशिष्ट न होने वाली स्फुरत्ता (स्पन्द) महासत्ता है। परमेष्ठी (परमशिव) का आश्रयस्थलभूत यही (विश्व का) सार (प्रमुख तत्व) कही गई है।।१४।।

यहाँ (व्यावहारिक जगत् में) 'घट क्यों है (अर्थात् घट का अस्तितत्व-'सत्ता क्यों मान्य स्वीकृत होती है) और खपुष्प (आकाशकुसुम) क्यों नहीं है' ऐसा कहने पर (लोग इसका उत्तर इस प्रकार) कहने वाले हो जाते है- घट मुझे स्फुरित (आभासित, ज्ञात) होता है, अन्य (खपुष्प) नहीं (स्फुरित होता है। इसलिये घट है, खपुष्प नहीं)। तो यदि घटत्व ही स्फुरत्व है- स्फुरणसम्बन्ध है (अर्थात् स्फुरण होना यदि घटधर्म है- घट ही के कारण है) तो (वह) सब को स्फुरित हो (सब को स्फुरित होना चाहिये) न कि किसी विशेष को ही, इसलिये **'मम स्फुरति'** (मुझे स्फुरित हो रहा है)' इसका क्या अर्थ है ? (यहाँ 'मम' से क्या तात्पर्य है ?)। (इसका यही अर्थ होता है कि) मेरे स्फुरण अर्थात्

स्पन्द में (घट) आविष्ट (प्रविष्ट) है। स्पन्द है **'किञ्चित् चलन'** (ईषद्गति- थोड़ा सा हिलना- जरा सा कम्पन)। किञ्चिद्रूपता (थोड़ा सा। अर्थात् 'किञ्चिच्चलन' में जो 'किञ्चित्' शब्द है उसका अर्थ) यही है कि अचल भी चल रूप में आभासित हो रहा है (जो नहीं गतिशील है वह गतिशील प्रतीत हो रहा है)। (**'मम स्फुरति'** से तभी आत्मा के) प्रकाश का स्वरूप तनिक भी अन्यथा नहीं हो सकता, अन्यथा होने के समान जैसे हो जाता है (अर्थात्) - अचल होते हुये आभास के प्रभेद से युक्त प्रतीत होता है। तभी कहा गया है-

'जिसकी दृक् (ज्ञान) एवं क्रिया सदैव प्रसरित होती रहती हैं, जिसकी इच्छा निर्बाधरूपेण चरितार्थ होती रहती है, चैतन्य एवं शान्तप्रकाश- स्वरूप आत्मा पदार्थजात (सब) में स्फुरित (स्पन्दित) होता रहता है'

एवम्

'अत्यधिक क्रुद्ध अथवा प्रसन्न अथवा क्या करूँ इस प्रकार विचार करता हुआ (अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ) अथवा दौड़ रहा व्यक्ति (यथा योगी) जिस स्थिति को प्राप्त करता है वहाँ स्पन्द होता है' (स्पन्दकारिका २२ अर्थात् २/६) और

......'स्पन्द' तत्त्व के विवेचन के लिये' (स्पन्दकारिका, संख्या २१ अर्थात् २/५) ''गुण आदि स्पन्द के निष्यन्द' अर्थात् **'अहं सुखी' 'अहं दुःखी अहं मूढः'** इत्यादि ज्ञानभेद'' (स्पन्दकारिका १९ अर्थात् २/३) विचित्रताओं वाले इस संसार में अपने स्वरूप (स्वभाव) से न विचलित होता हुआ व्यक्ति 'गम्भीर स्पन्दवान्' है ऐसा कहा जाता है। सम्पूर्ण क्रियाओं के सम्पादन में स्वातन्त्र्य होने के कारण 'होने (भवन) में कर्तृता'- 'होने में कर्तृत्व' ही है सत्ता। वह (सत्ता) आकाशकुसुम (खपुरुष) को भी व्याप्त करती है (खपुष्प की भी एक प्रकार की सत्ता होती है) अतः **'महती' (सा सत्ता महती = महासत्ता)** है। नील आदि के सदृश देश, काल की सृष्टि वही (सत्ता) करती है, इसलिये उन (देश एवं काल) के द्वारा विशेषणीय (भेद किये जाने वाली) नहीं होती। वस्तुतः जो जिसके साथ समान स्तर (भूमि) पर प्रकाशित है वह उसका विशेषण (भेदक) है, जैसे चैत्र का विशेषण होता है कङ्कण (कटक)

लीला - प्रधानागमेषु[1] = मुख्य आगम[2] शास्त्रों में। **एतत्**[3] = यह। वह परावाक्

---

१. (i) **महाद्वैतवादिषु मालिनीविजयादिप्रधानशास्त्रेषु'** (भास्करी, पृष्ठ २५५)
(ii) **रहस्यागमेषु परमेश्वरभाषितेषु वेदान्तादौ मुनिप्रोक्तेषु सिदधान्तप्रोक्तेषु गुरुनिरूपितेषु च शास्त्रेषु'** (टिप्पणी संख्या ३४१)

२. **आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।**
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।

३. **'एतत् - प्रकाशस्य विमर्शप्राधान्यम्'** टिप्पणी संख्या ३४२)

जिसे चैतन्य, संविद् आदि कहा जाता है वह 'महासत्ता' है। प्रश्न यह है कि 'महासत्ता' किसे कहते हैं ? यदि पहले हम 'सत्ता' के स्वरूप को समझ लें तो 'महासत्ता' के अर्थ को समझने में सारल्य होगा। सत्ता है अस्तित्व अर्थ 'सत् का भाव'। हम कहते हैं कि **घटः अस्ति', 'खपुष्पं नास्ति'**। प्रश्न है ऐसा क्यों ? इसके उत्तर में कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि घट है इसलिये कि 'वह मुझे स्फुरित होता है' (**घटो 'मम' स्फुरति**)- मेरी जानकारी में आया है- मुझे भासित होता है- मेरे बोध में स्फुरणकर्ता होता है[१], जबकि खपुष्प ऐसा नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि 'घटः मम स्फुरति' से क्या तात्पर्य है ? क्या स्फुरण होना घट का धर्म है ? यदि स्फुरण होना (स्फुरित होते रहना[२]) अर्थात् अपने को बोध कराना- स्फुरण से सम्बन्ध घट का धर्म होता तो वह घट सभी (व्यक्तियों) को स्फुरित होता क्योंकि स्फुरित हुआ रहना उसका धर्म- उसका स्वभाव मान्य हुआ है। यदि घट न स्फुरित होगा तो किसी को भी नहीं होगा[३]। परन्तु वस्तुतः घट किसी को स्फुरित होता है, किसी को नहीं भी होता है- जिसके स्फुरण में प्रविष्ट होता है उसी को स्फुरित होता है, तब 'घटः मम स्फुरति' इसका क्या अभिप्राय है ? इसका अभिप्राय है- मेरे स्फुरण अर्थात् स्पन्दन में घट प्रविष्ट हुआ। अभिप्राय यह है कि स्फुरण हमारा है- बोध हमें होता है। उसमें घट विषय बनता है। वस्तुतः घट भी 'अहम्' का ही रूप है, अथवा यों कहें सम्बन्धी है- आत्मत्वेन, अन्यथा मत्स्फुरणविषय ही न होता[४]।

'स्पन्दन[५]' क्या है ? प्रकृत में स्पन्दन है घटविषयीकरणरूप किञ्चिच्चलन। यहाँ किञ्चित् से क्या अभिप्रेत है ? यही कि वह चलता नहीं है और आभास होता है कि चलता है। प्रकाश का स्वरूप अपने स्वभाव से तनिक भी च्युत नहीं होता है अतः वह अचल ही रहता है। 'मम घटः स्फुरति' का अर्थ यही है कि प्रकाशस्वरूप मैं घटरूप में स्फुरित होता हूँ[६]। यहाँ प्रकाशस्वरूप में किञ्चित् च्युति नहीं है। प्रकाश मैं हूँ, घट मैं हूँ,

---

१. **'घटः मम स्फुरित- मद्बोधे स्फुरणकर्ता भवति अतः अस्तीतिभावः'** (भास्करी, पृष्ठ २५६
२. स्फुरत्त्वम् = स्फुरित होते रहना, भासित होते रहना
३. **'वा पक्षान्तरे अस्फुटस्वभावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे कस्यचिन्न स्फुरेत्, विशेषाभावात्, न चैतद्युक्तम् स्फुरणाविष्टस्य एकस्यैव तत्स्फुरणात् इति भावः'** (भास्करी, पृष्ठ २५६)
४. भास्करी, पृष्ठ २५६
५. स्पन्द के २ प्रभेदों (१) 'सामान्य' एवं (२) 'विशेष' (जिन्हें क्रमशः 'प्रतिष्ठित' 'अप्रतिष्ठित' कहा जाता) के स्वरूप को क्रमशः कारिका (२/३, २/५, २/६) एवं उनकी कारिकाओं (स्पन्दकारिकाओं) की विवृत्ति में देखा जा सकता है।
६. **'प्रकाशस्वरूपं हि इति- मम स्फुरति घट इति अहमंशलग्ना स्फुरत्ता संक्रम्यते भावे घटः स्फुरति इति कोऽर्थः अहं तावत् प्रकाशात्मा घटरूपेण स्फुरामि इति तदेतदुक्तं मनागिति।'** (टिप्पणी संख्या ३४८)

स्फुरण भी मैं हूँ यहाँ प्रकाशस्वरूपता की च्युति नहीं है।

सर्वत्र आत्मा का ही स्फुरण होता है। परेश की शक्ति (परावाक्, स्वातन्त्र्य, चैतन्य आदि नामों से जाने जाने योग्य) में ऐसा प्रभाव होता है कि सर्वत्र स्फुरण आत्मा का ही होता है। विषय चाहे घट हो अथवा पट अथवा और कोई भी हो- कुछ भी हो स्फुरित आत्मा ही होती है। घटबोधस्थल में आत्मा घट के रूप में स्फुरित होती है। वहाँ घट एवं आत्मा में भेद नहीं रहता। वैसे भेद रहता कभी नहीं। यह समस्तजगत् है तो आत्मा का ही[1] विकास। परमशिव ने स्वेच्छा से स्वयं को विश्वरूप में प्रकट किया है। यही अभिप्राय **'आत्मैव सर्वभावेषु.....'** इत्यादि पद्य का है।

अद्वैत वेदान्त में परमार्थ तत्त्व 'ब्रह्म' निर्गुण है, साँख्य का पुरुष भी वैसा ही (निर्गुण, निष्क्रिय) है। प्रश्न होता है जगत् की सृष्टि में क्रिया कैसे और कहाँ से आती है ? किसका उन्मेष है ? ब्रह्मवादी सृष्टि में क्रिया आदि का आगम अनिर्वचनीया माया से माना जाता है और साँख्य में प्रकृति से। किन्तु प्रत्यभिज्ञा में तो माया या प्रकृति परमेश की शक्ति है[2]। वहाँ शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद है। अक्रियात्मक भी वह है और क्रियात्मक भी वह। परमशिव दशा में केवल 'अहम्' स्फुरणमात्र होता है। यहाँ कोई भेद नहीं, देश-काल नहीं, कोई व्यक्ति नहीं, स्पन्द भी चलनात्मक नहीं। अचलात्मक स्पन्द से चलनात्मक आद्यक्रिया का उन्मेष कैसे हुआ ? चलनात्मक क्रिया के अव्यवहित पूर्व स्पन्द का क्या स्वरूप होता है जिससे कि चलनात्मक क्रिया का उन्मेष होता है ? क्या वह अचलात्मक था तब तो अचल से चल का उन्मेष कैसे सम्भव है ? तो फिर क्या वह चलनात्मक था। ऐसी स्थिति में वह आद्यक्रिया का उन्मेषजनक कैसे होगा ? नहीं। तब वह अचलात्मक चलन के रूप में 'प्रतिष्ठित स्पन्द' अर्थात् 'अचनात्मक चल तत्त्व' माना जा सकता है।

स्पन्दतत्त्वविविक्तये- प्रकृत पद का बोध स्पन्दकारिका (२/५) की पूरी व्याख्या के अध्ययन से स्पष्ट हो सकेगा। छात्रों को प्रकृतस्थल की स्पन्दकारिका (संख्या २१ अर्थात् २/५) एवं उसकी व्याख्या देखनी चाहिये। रामकण्ठाचार्य ने यहाँ उद्धृत पद 'स्पन्दतत्त्वविविक्तये' की व्याख्या इस प्रकार की है-

---

१. (i) **'बहीरूपतया आभासने अन्तारूपता न त्रुट्यति..... किन्तु तत्र अहम् इति उचिते परामर्शे योऽयम् इदन्ता-परामर्श सैव बाह्यता.....'** इत्यादि (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी- १/५/१०)

(ii) **'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।**
तस्यानावृतरूपत्वात्र निरोधोऽस्ति कुत्रचित्।।' (स्पन्दकारिका- १/२)

२. **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'**

'स्पन्दस्य परस्य शाक्तस्य तत्त्वस्य उपचरितसामान्यविशेषात्मकतया द्विप्रकारत्वेन व्याख्यास्यमानस्य, यत्तत्त्वं परमार्थः यथाक्रममुपादेयतया हेयतया च निश्चितं रूपं, तस्य विवित्तये विवेकाय पृथक्करणाय'[1]

प्रायः स्पन्द के दो प्रभेद हैं- (१) सामान्य स्पन्द (२) विशेष स्पन्द। रामकण्ठ दोनों प्रकार के स्पन्द का निरूपण इस प्रकार किया है- (१) सामान्यस्पन्द- **'उपादेयतमः परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य- अयमहमस्मि, अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते- इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पन्दः'**[2]। (२) विशेषस्पन्द- **'अत्यन्तहेया विशेषस्पन्दा अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्नमायीयप्रमातृविषयाः सुखितोऽहम् दुःखितोऽहम् इत्यादयो गुणमयाः प्रत्ययप्रवाहाः'**[3]

स्पष्ट है कि 'मैं हूँ, मुझसे जगत् की सृष्टि होती है, मुझ ही में जगत् का प्रलय होता है इत्यादि सामान्य स्पन्द परम उपादेय होता है और 'मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ' इस प्रकार आत्मा में देहादि का अभिमान करने पर जो गुण (सत्त्वगुण = सुख, रजोगुण = दुःख)-रूप अर्थात् विशेषरूप स्पन्द है 'विशेषस्पन्द'। इनमें विवेक हो जाये- एक को दूसरे से अलग करने के लिये (जिससे उपादेय का उपादान किया जा सके एवं हेय का परित्याग किया जा सके)। अतः यहाँ जिस 'स्पन्द' का प्रसङ्ग है वह (१) सामान्य स्पन्द ही है।

सांसारिक जीवन बड़ा ही विचित्र है। अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में जो व्यक्ति विचलित नहीं होता[4]- स्वरूप से च्युत नहीं होता उसे 'गम्भीर' कहा जाता है तथा वह 'स्पन्दवान्' भी मान्य होता है। यहाँ अचल में चलत्व का आभास स्पष्ट है। इस विवेचन से किञ्चिच्चलन रूप 'स्पन्द' के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है।

कारिका में वह (**सा**) परावाक् **'महासत्ता'** कही गई है। अतः 'महासत्ता' शब्द का क्या अर्थ समझा जाये ? 'महासत्ता' इस समस्त पद का विग्रह होगा- **'महती सत्ता महासत्ता'**। पहले यदि 'सत्ता' शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाये और पुनः वह सत्ता 'महती' क्योंकर है यह मालूम हो जाये तो 'महासत्ता' के स्वरूप स्पष्टीकरण सारल्येन हो सकेगा।

सत्ता का स्वरूप - 'सत्' है वह जो होने (भवन) का कर्ता हो- जो होने में स्वतन्त्र हो। परमशिव जगत् 'होने' में स्वतन्त्र है[5] अतः 'सत्' है। 'सत् + ता' = सत्ता

---

१. पृष्ठ ६३
२. पृष्ठ ६३-६४
३. पृष्ठ ६४
४. **'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** (श्रीमद्भगवद्गीता- ६/२२)
५. **'स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय- २)

= परेशत्व = परेशशक्ति = चेतनशक्ति = चैतन्य = परावाक् = सत्ता। सत् = भवनकर्ता[1]। सत्ता = भवनकर्तृता। ध्यान रहे सत्ता का अर्थ जो 'भवनकर्तृता' है उसका अर्थ इतना ही नहीं कि 'भवनक्रिया में ही स्वातन्त्र्य' अपितु लक्ष्यार्थ है 'सर्वविध क्रियाओं में सर्वथा स्वातन्त्र्य'। उक्त 'सत्ता' को '**महती**' इसलिये कहेंगे कि इसके क्षेत्र की व्यापकता, इसकी व्याप्ति अधिक (महती) है अर्थात् इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत अन्यों के विस्तृत है। जैसे घटादि की सत्ता है (घटोऽस्ति) वैसे ही खपुष्प की भी सत्ता है (भले ही सत्ता पारमार्थिकी न हो किन्तु उसका सद्रूपेण बोध तो होता ही है) अथवा जैसे घटाभाव की सत्ता है (घटाभावोऽस्ति)। यही कारण है कि इस सत्ता को 'महासत्ता' कहते हैं।

कारिका में कहा गया है 'देश- 'कालाविशेषिणी' अर्थात् यह महासत्तारूप परावाक् देश एवं काल के द्वारा विशेषणीय होनी सम्भव नहीं- परावाक् देश एवं काल के सम्बन्ध से परे है। इस 'प्रत्यवमर्शरूपा चिति' से विसृष्ट ये देश एवं काल भला इसके विशेषण कैसे बन सकते हैं। विशेषण केवल अस्तित्ववान् पदार्थ ही बन सकता है। देश-काल का अस्तित्व तो उनमें उत्पन्न होने के पश्चात् होता है, उसके पहले अनुत्पन्न अतः अस्तित्वहीन वे देश-काल विशेषण बन नहीं सकते। क्या अजात अर्थात् अनुत्पन्न (जो अभी है ही नहीं) किसी का विशेषण बन सकता है ? इस प्रकार जब एक स्थान पर जो विशेषण न बन सका उसे फिर दूसरे स्थान पर विशेषण बनाने की बात सोचना ही व्यर्थ है[2]। अन्यच्च- विशेष्य एवं विशेषण का स्तर एक होना चाहिये। जैसे चैत्र का विशेष 'कटक' हो सकता है-'कटकवान् चैत्रः'। कारण, 'कटक' एवं 'चैत्रशरीर' दोनों का बोध इदन्तया होता है किन्तु संवेदन (परामर्श) है अहंरूप जबकि देश-काल है **इदंरूप**। एक सदैव प्रमाता ही रहता है (प्रमेय नहीं), दूसरे सदैव 'प्रमेय' ही रहते हैं (प्रमाता नहीं)। इस प्रकार संवेदन एवं देश-काल में तुल्यकक्ष्यता (समानस्तर- एक स्तर) नहीं सिद्ध होती। फिर कैसे देश-काल संवेदन का विशेषण होगा, कभी नहीं[3]

(१४)

प्रसङ्ग - देश एवं काल से विमर्श विशिष्ट नहीं हो सकता इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए यहाँ अभिनवगुप्त प्रकृत कारिका के शेषांश की व्याख्या प्रस्तुत

१. **'सन्नैव हृदयप्रकाशो भवनक्रियाया भवति कर्ता।**
सैव क्रियाविमर्शः स्वस्था क्षुभिता च विश्वविस्तारः।। (टिप्पणीसंख्या- ३५३)

२. **'न हि तत्सृष्टस्य तद्विशेषणत्वं युक्तम्, तत्सृष्टेः पूर्वं तदविशिष्टतया सिद्धस्य तस्योत्तरकाले तद्विशेषणताया व्यर्थत्वात्'** (भास्करी, पृष्ठ २६०-६१)

३. **'कृतकस्यैव तौ विशेषणं नाकृतकस्य संवेदनस्य प्रमेयकक्ष्यापतितस्यैव च प्रमातृसंयोज्यमानाभासान्तराभिधानधर्मयोजनसहिष्णोस्तौ विशेषणं न प्रमेयतोत्तीर्णस्य प्रमात्रैकरूपस्य संवेदनस्य इति।'** (टिप्पणीसंख्या- ३५४)

करते हैं-

न च देशकालौ विमर्शेन तुल्यकक्ष्यौ भातः- तयोः इदन्तया तस्य च अहन्तया प्रकाशे तुल्यकक्ष्यत्वानुपपत्तेः। एवं देशकालास्पर्शात् विभुत्वं नित्यत्वं च। सकलदेशकालस्पर्शोऽपि तन्निर्निर्माणयोगात् इति, ततोऽपि व्यापकत्वनित्यत्वे। तदुक्तम्-

'महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते।' इति। सारम् इति यत् अतुच्छं रूपं तत् इयमेव विमर्शशक्तिः, ग्राह्यग्राहकाणां यत् प्रकाशात्मकं रूपं तस्यापि अप्रकाशवैलक्षण्याक्षेपिका इयमेव इति, श्रीसारशास्त्रेऽपि निरूपितम्-

यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी मता।' इति। सैषा, इति प्रत्यभिज्ञानं दर्शितम्। हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्त नीत्या जडानां चेतनं, तस्यापि प्रकाशात्मत्वं, तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं तत्र तत्र अभिधीयते। सर्वस्य हि मन्त्र एव हृदयम्, मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शनं च परावाक्छक्तिमयम्। तत एवोक्तम्

'न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः।' इति

'तत्र तावत्समापन्ना मातृभावम्........।' इत्यादि च, इत्यागमेषु। तत्रभवद्भर्तृहरिणापि

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते।।

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।'

इति।

'सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्।।'

इत्यादि च। तत् एतेन विदुः इत्येतत् निर्वाहितम्। बौद्धैरपि

अध्यवसायापेक्षं प्रकाशस्य प्रामाण्यं वदद्भिः उपगतप्राय एव अयम् अर्थः - अभिलापात्मकत्वात् अध्यवसायस्य इति।।१४।।

अर्थ - देश एवं काल विमर्श के समान स्तर पर प्रकाशित नहीं होते- (कारण,) वे दोनों (देश एवं काल) 'इदम्'- रूप से और वह (विमर्श) 'अहम्' रूप से प्रकाशित होता है (इस प्रकार 'देश-काल' एवं 'विमर्श' के बीच) समान स्तर की उपपत्ति नहीं होती। इस प्रकार देश तथा काल का स्पर्श (सम्बन्ध) न होने के के कारण उस (विमर्श) का विभुत्व (देश से परे होना, सर्वव्यापित्व) एवं नित्यत्व (काल से परे होना) सिद्ध होता है। उन (देश एवं काल) के निर्माण (उत्पत्ति) के सम्बन्ध (योग) के कारण (**तन्निर्माणयोगात्**) वह (महासत्ता-विमर्श) समस्त देशों एवं कालों से सम्बद्ध (स्पृष्ट) भी है और इस कारण से वह व्यापक एवं नित्य है। यही कहा गया है-

'वह महादेवी महासत्ता जीवन का तत्त्व- विश्व का सार- कही जाती है'। (कारिका में जो) 'सार' (शब्द कहा गया है उसका अर्थ) है- जो (इस विश्व[1] का) अतुच्छ (तुच्छ नहीं- गौणरूप नहीं अपितु) प्रधानरूप वस्तु है वह यही (शिव की) विमर्शशक्ति है, ग्राह्य (घटादि) एवं ग्राहक (प्रमाता) का जो प्रकाश (सार)-रूप है वह 'अप्रकाश से विलक्षण (भिन्न) है' इस (तथ्य) का आपेक्ष करने वाली यही (विमर्शशक्ति) है, श्रीसारशास्त्र (मालिनीविजय) में भी (श्रीपरमेश्वर[2] के द्वारा) निरूपण किया गया है कि

''जो इस जगत् का सार है वही पराशक्ति मालिनी' है''। (कारिका में) सैषा (सा एषा) कहकर शक्ति के प्रत्यभिज्ञान की ओर सङ्केत किया गया है **(सा पूर्वमनुभूता, एषा सम्प्रत्यनुभूयमाना शक्तिः- प्रत्यभिज्ञायमाना शक्तिरित्यर्थः।)** (कारिका में) 'हृदय' (शब्द का अर्थ) कहा गया है- 'प्रतिष्ठा' '(स्थित होने) का स्थान (आधार)' और वह (प्रत्यभिज्ञाकारिका १.१.४) में कही गई युक्ति से जड (पदार्थों) का प्रतिष्ठास्थान (हृदय) है चेतन (वस्तु), उस (चेतन) का भी (हृदय-आधार) है प्रकाशरूपता (यतः चेतन स्वयं-प्रकाशरूप है) और उस (प्रकाश) का भी (हृदय) है विमर्शशक्ति जिससे स्वयं का बोध होता है- अहंरूप में) इस प्रकार विश्व (जगत्) के परम (परमशिवरूप) पद पर स्थित रहने वाले शान्त (विश्रान्त, परेश) का हृदय यही विमर्श है जो परमन्त्र (महामन्त्र)- रूप है (और) जिसका अभिधान प्रायः[3] (शास्त्रों में) किया गया है। सबका हृदय (सार) मन्त्र ही है और मन्त्र है विमर्शनरूप (आत्मबोधनस्वरूप) और विमर्शन है 'परावाक्'शक्ति-

---

१. **'जडचेतनयुगलकमेव यद्विश्वं तस्येयं सारभूतेति'** (टिप्पणीसंख्या- ३५८)
२. **'निरूपितम्' इति श्रीपरमेश्वरेणेत्यर्थः'** (भास्करी, पृष्ठ २६२)
३. 'तत्र तत्र का अनुवाद प्रायः 'शास्त्रों में' किया गया है। पाठान्तर है 'यत्र तत्र' जिसका अर्थ भास्करी ने 'सर्वशास्त्रेषु' (पृष्ठ २६३) किया है।

रूप। इसीलिये आगमों में इस प्रकार कहा गया है-

'उन (मन्त्रों) के बिना न तो शब्द हो सकता है, न अर्थ और न ही चिति (चैतन्यशक्ति) का ग्रहण' और

'मातृभाव सम्पन्न हो गया'

पूज्य भर्तृहरि ने भी कहा है-

'लोक में ऐसा (कोई) ज्ञान नहीं है जो शब्द के अनुगम से रहित हो। सभी ज्ञान (प्रत्येक ज्ञान) ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे वे शब्द से बिंधे हों। ज्ञान की शाश्वती वाग्रूपता यदि निकल जाये (ज्ञान सदैव शब्दरूप है- ज्ञान और शब्द एकरूप है अतः यदि ज्ञान से वाक् निकल जाये) तो फिर प्रकाश (भी) प्रकाशित न होगा (क्योंकि) वह (ज्ञान की 'वाग्रूपता') 'प्रकाश की प्रकाशिका'[1] (प्रत्यवमर्शिनी) है।

तथा

'वही यह (वाक्) प्राणियों की चेतना है, बाहर और भीतर वर्तमान है, जिस (चेतना) के निकल जाने पर यह (संसारी जीव) काष्ठ (लकड़ी) एवं दीवार (कुड्य) के समान विसंज्ञ (संज्ञाहीन-चैतन्यशून्य, जड) दिखलाई देता है' इत्यादि। अतः इस (उक्त विवेचन) से (**'स्वभावमवमासस्य विमर्शं विदुरन्यथा**[2]' के) **'विदुः'** का निर्वाह किया गया। (अन्यमतावलम्बी भी **'स्वभावमवभासस्य विमर्शम् विदुः'** इत्यादि सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। इसीलिये बहुवचनान्त **'विदुः'** पद का प्रयोग है)। ज्ञान के (प्रकाशस्य) प्रामाण्य में अध्यवसाय (बुद्धि) की अपेक्षा होती है, ऐसा कहने वाले बौद्धों ने भी प्रायः यही अर्थ (सिद्धान्त) स्वीकार कर लिया है, क्योंकि अध्यवसाय शब्दात्मक (शब्दरूप) होता है॥१४॥

लीला - पिछले विभाग की समाप्ति में यह विवेचन किया जा रहा था कि देश-काल एवं विमर्श तुल्यकक्ष्य प्रकाशित नहीं होते। देश-काल की सृष्टि शिव की शक्ति करती है जो कि देश-काल से परे है। देश-काल की सृष्टि जब परेशशक्ति के द्वारा नहीं की गई थी तब देश-काल का अस्तित्व ही नहीं था। तब मात्र परमशिव था। माना कि उसकी शक्ति थी किन्तु शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद होता है अतः वस्तुतः अद्वैत तत्त्व परमशिव ही था। द्वितीय था ही नहीं, तब कौन किसका विशेषण बनता ? परेशशक्ति के द्वारा जब देश-काल की उत्पत्ति हुई तब तो उत्पादित (देश-काल) एवं उत्पादक

---

१. **'विमर्शः प्रकाशश्चेति तत्त्वद्वयं तत्र विमर्शः प्रकाशस्य प्रकाशक इति शैवैरङ्गीक्रियते, तत्रास्माभिः विमर्शस्थानीया वागभ्युपगम्यते इति'** (प्रकृतकारिका की सूर्यनारायणकृत 'भावप्रदीप' व्याख्या, पृष्ठ १३५)

२. प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/११

(विमर्शशक्ति) में सम्बन्ध होने के कारण चिति का सभी देशों एवं कालों से सम्बन्ध अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार चिति में विभुत्व एवं नित्यत्व रहता है।

परेशशक्ति (परावाक्) को 'महासत्ता' 'महादेवी' कहा गया है। वह विश्व का जीवन है- प्राणप्रद है, देश-काल भी विश्व के अन्तर्गत है अतः वे देश-काल परावाक् के विशेषण नहीं हो सकते[१]।

व्याख्यायमान कारिका के उत्तरार्ध में समाविष्ट प्रायः सभी पदों को लेकर उनकी विशद व्याख्या अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत की है। 'सार' पद की व्याख्या **'सारम् इति यत्'** से लेकर **'यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी मता। इति'** तक की गई है। **'यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी मता'** इस उद्धरण को अभिनवगुप्त ने 'श्रीसारशास्त्र' ग्रन्थ का बतलाया है। भास्करी के अनुसार श्रीसारशास्त्र[२] 'मालिनीविजय' का अपरपर्याय है।

'सैषा' की व्याख्या करते हुये व्याख्याकार ने 'उक्तनीत्या' पद से प्रत्यभिज्ञाकारिका-(१/१/४) की ओर सङ्केत करते हैं[३]। **'उक्तनीत्या जडानां चेतनम् प्रतिष्ठास्थानम्'** कथन का आधार प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/१/४ ही प्रतीत होती है।

'परमेष्ठिनः' पद का व्याख्या में बिना उल्लेख किये उसकी व्याख्या **'विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य'** अंशद्वारा की गई है। **'हृदयं प्रोक्ता'** का विवरण है- **इदमेव 'हृदयं' विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं तत्र तत्र 'अभिधीयते'**। स्पष्ट है कि **'प्रोक्ता'** अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये 'अभिधीयते' पद का प्रयोग किया गया है। अभिधानप्रदर्शन-हेतु 'तत एवोक्तम्' कहकर आगम से दो उदाहरण-

(१) **'न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः'**

एवं (२) **तत्र तावत्समापन्ना मातृभावम्........'**

उपस्थित करके पुनः **'तत्रभवद्भर्तृहरिणापि'** (उक्तम्) कहकर वाक्यपदीय से तीन उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं-

(१) **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके ....सर्वं शब्देन गम्यते।।'** (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, कारिकासंख्या १२३)

---

१. **'विश्वजीवनम्' इत्यनेन देशकालाविष्टत्वमप्युक्तम् तयोरपि विश्वान्तर्गतत्वात्, यच्च येन जीव्यते न तत्तस्य विशेषणं युक्तम्'** (भास्करी, पृष्ठ २६१)

२. **'श्रीसारशास्त्रे मालिनीविजये'** (भास्करी, पृष्ठ २६२)

३. प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/१/४ इस प्रकार है-

'तथा हि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।।'

(२) **'वाग्रूपता .... सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।'** (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, कारिकासंख्या १२४)

(३) **'सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते[१]।**
यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्[२]।।'

बौद्धों की दृष्टि में विमर्श भ्रम है[३] तथापि चूँकि अध्यवसाय को प्रमाण माना जाता है और अध्यवसाय है अभिलापरूप[४]- शब्दरूप[५]। इस प्रकार बौद्ध अधिकांश में (बाहुल्येन[६]) यहाँ प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अभिप्राय यह है कि भर्तृहरि आदि के अतिरिक्त बौद्ध भी परावाक् के महत्त्व की मान्यता को प्रायः स्वीकार ही करते हैं। कथन का सारांश यह है कि यदि ध्यान देकर विचार किया जाये तो हम देखेंगे कि प्रायः सभी दार्शनिक यहाँ प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त की पुष्टि ही करते हैं।

(१५)

प्रसङ्ग - प्रश्न है कि परमशिव में अनन्त शक्तियाँ है जैसे नित्यत्व, विभुत्व, ज्ञान, क्रिया, इच्छा आदि। फिर भी इस विमर्श शक्ति (अहंप्रत्यवमर्श शक्ति) को क्यों सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रश्न को अवतरणिका में अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सम्भाव्य प्रश्न के उत्तररूप में कारिकाकार ने अग्रिम दो कारिकाओं (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१५-१६) की रचना की है-

---

१. (i) वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, कारिका (पाठान्तर से) संख्या- १२६
(ii) **'सा एषा वाक् संसारिणां संज्ञा इत्युच्यते या बहिः बाह्यस्य लोकव्यवहारस्य साधनं या च अन्तः सुखदुःखदिसंविद्रूपा वर्तते'** (भावप्रदीप, पृष्ठ १३७)

२. कारिका के उत्तरार्ध, **'यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्'** का पाठान्तर इस प्रकार है- **'तन्मात्रमनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु'** (सभी प्राणियों अर्थात् किसी भी प्राणी में रहने वाला चैतन्य वाक् का अतिक्रमण नहीं होता)।

३. **'तन्यते विमर्शस्य भ्रमत्वात्'** (भास्करी, पृष्ठ २६६)

४. न्यायबिन्दु के सूत्र **'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना'** (न्यायविन्दु- १/१/५) की व्याख्या करते हुये धर्मोत्तर अपनी टीका में 'अभिलाप' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं-
'अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः वाचकः शब्दः'।

५. **'घटोऽयम्'** के रूप में जब यहाँ घटज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) होता है तब इस एक ही ज्ञान में वस्तु (घटपदार्थ–अभिधेय) एवं अभिधान ('घट' शब्द) दोनों का सम्बन्ध होता है। अतः इस अध्यवसायात्मक ज्ञान को शब्दात्मक माना जाता है।

६. **'उपगतप्रायः बाहुल्येनाङ्गीकृतः न तु सर्वथा'** (भास्करी, पृष्ठ २६६)

ननु असंख्यशक्ति श्रेणीशोभितवपुषि परमशिवे विमर्शशक्तिरेव इयम् इत्थंकारम् अभिषिच्यते कस्मात्? इत्याशङ्क्याह

आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थिति।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात्खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता।।१५।।
स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्।।१६।।

अर्थ - आशङ्का यह है कि परमशिव में जब अनन्त शक्तियों का समूह सुशोभित हो रहा है तब क्योंकर विमर्शशक्ति को ही 'इस प्रकार की है' (महत्त्वपूर्ण है) ऐसा सङ्केत करके (सर्वोच्च पद पर) अभिषिक्त किया जा रहा है (अहंप्रत्यवमर्शशक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जा रहा है)? ऐसी आशङ्का करके (तत्समाधानार्थ कारिकाकार निम्नाङ्कित दो कारिकायें) कहते हैं-

'इसी (विमर्शशक्ति) के कारण यह (अयम् = यह आत्मा) अपने को (आत्मानम्) ज्ञेय (ज्ञान का विषय) बनाता है, ज्ञेय (आत्मा से) पृथक् स्थित नहीं है (वस्तुतः ज्ञेय ज्ञाता परेश, आत्मा से भिन्न नहीं है)। (यदि ज्ञेय ज्ञाता-आत्मा से भिन्न होगा) तब (तदा) तो (आत्मभिन्न विषय की ओर ज्ञेयबोधनिमित्त सहायताहेतु आत्मा के) अभिमुख होने कारण इस (आत्मा) की स्वतन्त्रता ही खण्डित हो जायेगी।।१५।।

'(चूँकि परेश ही वस्तुतः केवल एक आत्मा है, अतः उस) अद्वयात्मा (परेश) के स्वातन्त्र्य (शक्ति) से स्वयं (प्रभु-परेश) ईशादिसङ्कल्पों (ईशादि के संकल्प) से 'स्वातन्त्र्य से अमुक्त (युक्त)' स्वयं (आत्मानम्) को (ही ईश आदि के रूप में) व्यवहारार्थ (उपासना-ध्यान आदि के लिये) बनाता है।।१६।।

लीला - 'ननु' कहकर अवतरणिका में शङ्का प्रदर्शित की गई है। **'असंख्यशक्तिश्रेणीशोभितवपुषि'** = यह विशेषण है **'परमशिवे'** का। वस्तुतः परमशिव से भिन्न कुछ भी नहीं। विश्व में जो कुछ है वह शिव का रूप है अतः जगत् में जितने पदार्थ हैं उन्हें हम शिव की शक्ति कह सकते हैं- **'असंख्याः याः शक्तयः- जगद्गतपदार्थरूपाः शक्तयः। तदुक्तम्- 'शक्तयोऽस्य जगत् सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः' इति तासां या श्रेणी- पङ्क्तिस्तया शोभितम् - विशेषितं वपुः- स्वरूपं यस्य तादृशे'**[१] **(परमशिवे)। विमर्शशक्तिः** = अहंप्रत्यवमर्शशक्तिः।

परमशिव में असंख्य शक्तियाँ होने पर भी विमर्शशक्ति को सर्वाधिक महत्त्व क्यों

१. भास्करी, पृष्ठ २६७

प्राप्त होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपने वैशिष्टय के कारण विमर्शशक्ति का प्राधान्य है। प्रकृत दोनों कारिकाओं में विमर्श के वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है।

कारिकासंख्या १५ का अन्वय- **'अत एव अयम् आत्मानम् ज्ञेयीकुर्यात्, न तु ज्ञेयेम् पृथक्स्थिति। तदा[१] औन्मुख्यात् अस्य स्वतन्त्रता खण्ड्येत।**

कारिकासंख्या १६ का अन्वय - **अद्वयात्मनः स्वातन्त्र्यात् प्रभुः ईशादिसङ्कल्पैः स्वातन्त्र्यामुक्तम् आत्मानम् निर्माय व्यवहारयेत्[२]**

परमशिव की विमर्शशक्ति का ही प्रभाव है कि परमशिव परमशिव है। इसी शक्ति (स्वातन्त्र्यशक्ति) के ही कारण (अतः एव) यह (**अयम् परमशिवः**) अपने को ही (**आत्मानम् एव**) ज्ञान का विषय बनाता है[३] (**ज्ञेयीकुर्यात्**)। परमशिव अपने द्वारा अपने को ही विषय (पदार्थ- जड एवं चेतन) बनाना है (उसके अतिरिक्त है ही कौन- है ही क्या)। जो भी ज्ञेय है परमशिव ने उसे अपने द्वारा अपने से अपने आधार[४] (**भित्ति**) में बनाया है। परेश से भिन्न ज्ञेय की सम्भावना नहीं। **'पृथक्स्थिति ज्ञेयं न'**, क्योंकि (१) परेश से पृथक् किसी वस्तु का कभी अस्तित्व ही नहीं रहता (२) स्व से भिन्न वस्तु ज्ञान का विषय ही न हो सकेगी। कारण, तब उसे (पृथक् वस्तु को) जानने के लिये परेश को किसी दूसरे पर आश्रित होना पड़ेगा। किन्तु (i) दूसरे किसी पदार्थ की सत्ता भी मान ली जाये तो इसका अर्थ यह हुआ कि परेश को किसी वस्तु के ज्ञान करने में स्वेतर की सहायता लेनी अनिवार्य है। तब तो परेश स्वतन्त्र कहाँ हुआ ज्ञेय का ज्ञान करने में। ऐसे अस्वतन्त्र को 'परेश' कैसे कहेंगे ? स्वातन्त्र्य (ईशत्व) ही उसका सार है जैसा कि पिछले विभागों में विवेचन किया गया है।

(१६)

प्रसङ्ग - अब कारिकासंख्या १५ की 'विमर्शिनी' व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है-

---

१. अथवा **'तदौन्मुख्यात्'** को **'तद् - औन्मुख्यात्'** रूप में लेकर **'तद्-जडविषयं प्रति औन्मुख्यात् हेतोः'** अर्थ कर सकते हैं। अभिप्राय दोनों स्थितियों में समान होगा। देखिये- **'यत् एतत् ज्ञेयविषयम् औन्मुख्यम् स्वसंवेदनसिद्धं दृश्यते तत् न अस्य स्यात्'** (विभागसंख्या १६ की विमर्शिनी')

२. **'व्यवहारयेत्'** = व्यवहार कराये (दूसरों से) अर्थात् उपासक आदि इस ईश आदिका उपास्य आदि रूप में व्यवहार करें, इसलिये प्रभु ईशादि का स्वातन्त्र्ययुक्त रूप में निर्माण करता है।

३. **'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय- १)

४. **'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय- २)

सर्वाः शक्तीः कर्तृत्वशक्तिः ऐश्वर्यात्मा समाक्षिपति। सा च विमर्शरूपा इति युक्तम् अस्या एव प्राधान्यम् इति तात्पर्येण उत्तरमुक्तम्। शब्दार्थस्तु अयं- प्रकाशात्मा परमेश्वरः स्वात्मानं ज्ञात्रेकरूपत्वात् अज्ञेयमपि ज्ञेयीकरोति इति यत् संभाव्यते- कारणान्तरस्य अनुपपत्तेः दर्शितत्वात् दृढेन संभावनानुमानेन, तत एव विमर्शशक्तिलक्षणात् कर्तृत्वात् हेतोः भवति, यतो हि अयम् आत्मानं परामृशति ततो विश्वनिर्भरत्वात् तथा नीलादित्वेन चकास्ति। ननु एषैव कुतः संभावना आत्मानं ज्ञेयीकरोति ?' इति आह पृथक् प्रकाशात् बहिर्भूता स्थितिः यस्य तादृक् ज्ञेयं नैव भवति। तु अवधारणे। तत्र च उक्ता युक्तयः। अभ्युच्चययुक्तिमपि आह- यदि व्यतिरिक्तं ज्ञेयं स्यात् तत् ज्ञातृरूपस्य आत्मनो यत् एतत् ज्ञेयविषयम् औन्मुख्यम् स्वसंवेदनसिद्धं दृश्यते तत् न अस्य स्यात्, तेन व्यतिरिक्तविषयौन्मुख्येन अन्याधीनत्वं नाम पारतन्त्र्यम् अस्य आनीयते। पारतन्त्र्यं च स्वातन्त्र्यस्य विरुद्धम्। स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणम् आत्मानः स्वरूपम्, इति व्यतिरिक्तोन्मुख आत्मा अनात्मैव स्यात्। अनात्मा च जडो ज्ञेयं प्रति न उन्मुखीभवति इति प्रसङ्गः। ततः प्रसङ्गविपर्ययात् इदमायातम् अव्यतिरिक्तोन्मुखः स्वतन्त्रः सन् आत्मानमेव ज्ञेयीकरोति इति।

अर्थ - ऐश्वर्यरूप कर्तृत्वशक्ति सभी शक्ति को (अपने में) समाविष्ट करती है। और वह (कर्तृत्वशक्ति) विमर्शरूप है अतः इसकी प्रधानता (होनी या मानी जानी) उचित ही है, इस अभिप्राय से उत्तर कहा गया है। और (अब) शब्दार्थ (दिया जा रहा है) **'अयम्'** (अर्थात्) प्रकाशरूप परमेश्वर **'स्वात्मानम्'** = चँकि परमेश्वर मात्र एक ज्ञाता ही होता है अतः ज्ञात्रेकस्वभाव होने के कारण वह परमेश्वर अज्ञेय को भी ज्ञेय बना देता है (चूँकि ज्ञाता होना- जानना उसका स्वभाव है अतः वह सबको जान लेता है, भले ही वह वस्तु अज्ञेय हो। जैसे अग्नि स्वभावतः उष्णस्पर्श होती है अतः वह ठण्डी, गर्म सब वस्तुओं को गर्म ही करती है) यह जो संभावना[१] के द्वारा व्यवस्थापित होता है (सम्भावना

१. कारिकागत **'कुर्यात्'** पद का अर्थ यहाँ **'सम्भाव्यते'** किया गया है। **'संभाव्यते'** से अभिप्राय है **'संभावनया व्यवस्थाप्यते'** (टिप्पणी संख्या ३६८)। 'कुर्यात्' पद के लिङ् लकार से द्योत्य है 'संभावना का विषय होना' (न कि पूर्णतः निर्णीत)- **'यत्संभाव्यते-सूत्रस्थकुर्यादितिपदस्थलिङ्द्योत्यसंभावनाविषयतां नीयते'** (भास्करी, पृष्ठ २६८)

२. विभागसंख्या ८७

इसलिये कि) परिपुष्ट संभावनानुमान[१] के द्वारा यह दिखला दिया गया है कि (विमर्श से अतिरिक्त) अन्य कारण की उपपत्ति नहीं होती, विमर्शशक्ति जिसका लक्षण है ऐसे 'कर्तृत्व' हेतु से होता है[२]। चूँकि यह (अयम्' प्रकाशरूप परमात्मा[३] अपना परामर्श करता है (अपने को 'अहम्' रूप में ज्ञान का विषय बनाता है- अपना ज्ञान करता है) अत: विश्व का आश्रय[४] होने के कारण उसी प्रकार परमात्मा 'नील' आदि के रूप में प्रकाशित होता है[५]।

प्रश्न - यही संभावना कैसे कि (परमशिव) अपने को ज्ञान का विषय बनाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में (कारिकाकार) कहते हैं 'पृथक् अर्थात् प्रकाश से बाह्य है स्थिति (आश्रय) जिसकी इस प्रकार का ज्ञेय नहीं हो सकता (होता)। (कारिका में) 'तु' (शब्द का प्रयोग) अवधारण (निश्चय, जोर देने) अर्थ में है। इस विषय में युक्तियाँ (पहले ही) कही जा चुकी हैं[६]। अधिक (शेष) युक्ति भी कहते हैं- यदि ज्ञेय (विषय) भिन्न[७] (ज्ञातृभिन्न) होगा (माना जायेगा) तो ज्ञाता आत्मा[८] की ज्ञेय विषय के प्रति जो स्वकीय अनुभव से सिद्ध उन्मुखता दिखलाई देती है वह[९] (उन्मुखता- औन्मुख्य) इस (आत्मा) की न होती। ज्ञातृभिन्न विषय के प्रति उस (तेन) औन्मुख्य से अन्य (स्वभिन्न अर्थात् ज्ञेय विषय के)

---

१. (i) **'स्यादेतदवभासेषु तेष्वेवावसिते सति।**
व्यवहारे किमन्येन बाह्येनानुपपत्तिना।। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/६) इत्यादि संभावनानुमान का रूप है।
(ii) **'अनुमानेन- स्यादेतदित्यादिना'** (टिप्पणीसंख्या ३६९)
(iii) **संभावनानुमानेन- 'स्यादेतत्' इति श्लोकोक्तेन संभावनानुमानेन'** (भास्करी, पृष्ठ २६८)

२. इस प्रकार अन्वय करके समझें- **'अज्ञेयम् अपि ज्ञेयीकरोति इति (यत्) संभाव्यते (तत्तु) तत एव विमर्शशक्तिलक्षणात् कर्तृत्वात् हेतोः भवति'**

३. 'अयम्- **प्रकाशरूपः परमात्मा'** (भास्करी, पृष्ठ २६८)

४. सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा में आश्रय प्राप्त है- ईश विश्वरूप है, अत: ईश नील भी है।

५. **'चकास्ति** = चकास् (अदादिगणीय, परस्मैपदी, अकर्मक धातु) + तिप्' = चमकता है, प्रकाशित होता है।

६. (i) उक्ता:, **'प्रागिवार्थः' इत्यादिना** (भास्करी, पृष्ठ २६९)
(ii) देखिये, **'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्प्रकाशात्मतया विना'** (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/२) एवं आगे की कारिकायें

७. **'व्यतिरिक्तम् स्वतो भिन्नम्'** (भास्करी, पृष्ठ २६९)

८. **'आत्मनः प्रकाशरूपपरिमितप्रमातुः'** (भास्करी, पृष्ठ २६९)

९. **'तत् औन्मुख्यम्'** (टिप्पणीसंख्या- २७१)

अधीन होना (वश में होना)- रूप जो पारतन्त्र्य (परवशत्व) है वह इस (आत्मा) को आपादित करा दिया जाता है (उस व्यतिरिक्तविषयौन्मुख्य के द्वारा आत्मा 'परतन्त्र कर दिया जाता है' ऐसा मानना होगा) और पारतन्त्र्य (परतन्त्रता) स्वातन्त्र्य के विरुद्ध है और स्वातन्त्र्य ही आत्मा का स्वरूप है, जिस स्वातन्त्र्य का लक्षण है 'अनन्यमुखप्रेक्षित्व' (जबकि पारतन्त्र्य है अन्यमुख्यप्रेक्षित्व)। तब (अपने से) अतिरिक्त (ज्ञेय विषय) के प्रति उन्मुख होने वाला आत्मा (तो वस्तुत:) 'अनात्मा' ही हो जायेगा। अनात्मा अर्थात् जड ज्ञेय के प्रति उन्मुख नहीं होता यह प्रसक्त होता है[1] (जो कि अभिमत नहीं है। क्योंकि आत्मा ज्ञेय विषय की ओर उन्मुख होता है- **'आत्मनः ज्ञेयविषयम् औन्मुख्यम् दृश्यते'** किन्तु उसी को कहा जा रहा है कि **'ज्ञेयं प्रति न उन्मुखीभवति'** अत: यह अनिष्टप्रसङ्ग है, अत: मान्य नहीं), अत: (पूर्वोक्त) प्रसङ्ग के विपरीत (यथार्थता होने) के कारण[2] (अर्थत:[3]) यह प्राप्त हुआ (सिद्ध हुआ) कि (अपने से) भिन्न के प्रति न उन्मुख होने वाला (अर्थात्) स्वतन्त्र (जो पूर्ण स्वतन्त्र है) अपने को ही ज्ञान का विषय बनाता है (ज्ञाता आत्मा ही ज्ञेय है)॥१५॥

लीला - अत: = 'अत:' अव्यय है, 'इदम् + तसिल्', 'अत:' का अर्थ हुआ 'अस्मात् कारणात्'। अत एव = अस्मात् एव कारणात् (इसी कारण से) 'अत:' पद अन्यसापेक्ष है, 'यत:' पदसापेक्ष है। **यतः स्वातन्त्र्यापरपर्यायस्य विमर्शस्य प्राधान्यम् अतः एव।**

प्रकृत विभाग (१६) में कारिकासंख्या १५ (**'आत्मानमत........स्वतन्त्रता**) की विमर्शिनी प्रस्तुत की गई है। परेश की प्रमुख शक्ति है 'विमर्श'। उसे ही कर्तृत्वशक्ति अर्थात् 'कुछ करने में 'स्वातन्त्र्य' कहा जाता है। यही शक्ति प्रधान है क्योंकि इसी शक्ति में सभी शक्तियाँ आ जाती हैं। कारिका के **'अयम्'** शब्द का अर्थ है प्रकाशस्वरूप 'परमेश्वर' जिसका स्वाभाव है ज्ञान होना। अत: वह ज्ञाता अवश्य रहेगा सर्वत्र। यहाँ तक कि उसका (ज्ञाता का) जो ज्ञेय होता है वह भी ज्ञाता (स्वयं आत्मा) ही होता है। यदि वह ज्ञाता न रहा तो उसका स्वातन्त्र्य- उसका आत्मत्व ही नष्ट हो जाने का प्रसङ्ग होगा। माना कि बाह्यार्थास्तित्ववादी (बौद्ध) लोगों के द्वारा बाह्यार्थसिद्धि के निमित्त बहुत से

---

१. **''इति प्रसङ्गः''इति। एतच्चानिष्टमेवानुभवविरोधात् इति भावः'** (भास्करी, पृष्ठ २७०)

२. **'प्रसङ्गविपर्ययात्- पूर्वोक्तप्रसङ्गस्य विपर्ययाद्धेतोः, ज्ञेये प्रत्यात्मन औन्मुख्यदर्शनादिति यावत्'** (भास्करी, पृष्ठ २७०)

३. **'इदमायातम्'** के विषय में टिप्पणी है **'अर्थादेव'** (टिप्पणीसंख्या ३७३)

अनुमानों को प्रस्तुत किया जा चुका है[1] किन्तु वे अनुमान एवं युक्तियाँ मात्र संभावनायें हैं[2], उनसे वस्तुतः बाह्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती। जिसे हम बाह्य अर्थ कहतेहैं वह भी परेश का आभ्यन्तर अंश या हृदय ही है जो बाह्यरूप में प्रकाशित होता है[3]। यतः दृढतर संभावनानुमान से (**'स्यादेतदवभासेषु.....'** इत्यादि'-'कारिका- १/५/६' से) यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञाता के ज्ञेय का विषय स्वयं ज्ञाता ही है और ऐसा होने का कारण है परेश की कर्तृत्वशक्ति, न कि अन्य कोई कारण, क्योंकि यहाँ कोई अन्य कारण चरितार्थ नहीं होता। जब परेश अपना ही परामर्श करता है तो उसके 'अपने' के अन्तर्गत समग्र विश्व है- नीलादि पदार्थ भी हैं। अतः यह मानना ही उचित है कि वह परेश ही- आत्मा ही 'नील' आदि के रूप में प्रकाशित होता है, क्योंकि प्रकाश से बाह्य-परेश से बाह्य कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

यदि ज्ञेय पदार्थ प्रकाश से भिन्न होगा अर्थात् परेश से भिन्न (ज्ञाता से भिन्न) होता तो ज्ञाता (आत्मा) ज्ञेय विषय की ओर स्वभावतः जो उन्मुख होता है, न होता। कारण, स्वभिन्न विषय की ओर ज्ञानार्थ उन्मुख होने का अर्थ है परमुखापेक्षी होना- अर्थात् किसी कार्य की सिद्धि के निमित्त अपने से भिन्न से सहायता लेना। यह तो परतन्त्रता का लक्षण है कि किसी से सहायता ली जाये। तब परेश की स्वतन्त्रता अर्थात् विमर्श धर्म कहाँ रहा। स्वातन्त्र्य तो परेश का धर्म है- आत्मा का धर्म है। परतन्त्र्य होने पर तो उसे अनात्मा अर्थात् जड ही मानना होगा। क्या जड भी ज्ञेय के प्रति उन्मुख हो सकता है ? कभी नहीं। उन्मुख होना जडधर्म नहीं, चेतनधर्म ही है। अत; यही मानना उचित होगा कि **'आत्मा स्वतन्त्रः सन् (आत्मा) आत्मानम् एव ज्ञेयीकरोति'।**

(१७)

प्रसङ्ग - अब उपस्थित है कारिका संख्या १६ (**स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानम् ..... व्यवहारयेत्**', १/५/१६) की विमर्शिनी-

न च केवलं नीलादिरूपमेव ज्ञेयं, यावत् अत्यक्तकर्तृस्वभावं स्वातन्त्र्येण अपरित्यक्तमेव सन्तम् आत्मानं निर्माय व्यवहारेण ध्यानोपासनार्चनोपदेशादिना

---

१. **'एवम् आशङ्क्यमानत्वेन परसंभावना दृढा दर्शिता'** (विमर्शिनी, अवतरणिका, (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/६ की)

२. **'स्यादेतदवभासेषु ...... बाह्येनानुपपत्तिना'** (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/६)

३. **'बहीरूपतया आभासने अन्तारूपता न त्रुट्यति......'** (विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाकारिका '१/५/१०' की)

योजयति इति यत् संभाव्यते तदपि अत एव इति सम्बन्धः। ननु स्वातन्त्र्य-युक्तं च निर्मीयते इति विरुद्धम् इदम् ?, तत्राह- अद्वयात्मनः संविदेकरूपस्य स्वातन्त्र्यात् हेतोः इदं न न युज्यते, यत् किल मायापदे अतिदुर्घटं प्रतिभाति, तत्संपादने यत् अप्रतिहतं स्वातन्त्र्यं तदेव पुनः स्वातन्त्र्यशब्देन दर्शितम्। अत एव इत्यनेन तु विमर्शशक्तिरूपम् इति अपुनरुक्तम्। अथवा अत एव स्वातन्त्र्यात् इति सामानाधिकरण्येन श्लोकद्वयेन संबन्धनीयम्। उदाहरणम् अत्र अर्थे दर्शयति- नीलादिनिर्माणवत् अस्य स्वतन्त्ररूपनिर्माणस्य अप्रसिद्धत्वात् ईश्वरो-भगवान्-आत्मा-नित्यो-विभुः स्वतन्त्रः इत्येवमादौ हि प्रमातुः, पूजयितुः, ध्यातुः वा पृथम्भूतं तत् प्रमेयं, पूज्यं, ध्येयं च भाति इति तत् तावत् निर्मितम्, न च अनीश्वररूपम्। एवं हि ईश्वर इति, अनीश्वर इति संकल्पध्यानादेः तुल्यत्वं स्यात्, न च एवम्- फलभेदस्य उपलब्धेः इति, तस्मात् स्वातन्त्र्यशून्यताभासनेन स्वातन्त्र्ययुक्तताभासनेन च यत् इदम् उभयं ज्ञेयम् आत्मरूपमेव परमेश्वरो भासयति तत् विमर्शशक्तिबलात् एव इति सैव प्रधानम् इति।।१६।।

अर्थ - नील आदि रूप (जड पदार्थ) ही ज्ञेय नहीं है (जिसका निर्माण परेश करता है और निर्माण करके उनका ज्ञान करता है) जब कि (परेश) अपने को 'जो (ज्ञेय) कर्ता के स्वभाव (सृष्टि आदि करने के स्वभाव) को नहीं छोड़ता और स्वातन्त्र्य को बिना छोड़कर अर्थात् स्वतन्त्र होता हुआ स्वयं को (आत्मानम्) बनाकर (ज्ञेयरूप में निर्माण करके) व्यवहार के द्वारा[१], ध्यान उपासना, अर्चन, उपदेश आदि से युक्त करता है, यह जो संभावना होती है वह भी इसी से (अत एव[२] = परेश की स्वातन्त्र्यशक्ति से ही) होती है इस प्रकार अन्वय (सम्बन्ध) है।

प्रश्न- (ज्ञेय-विषय) 'स्वातन्त्र्य से युक्त है और उत्पन्न भी किया जाता है' यह (परस्पर) विरुद्ध (बात) है ? (इस विषय में कारिकाकार यह) उत्तर देते हैं कि चूँकि

---

१. जनता के द्वारा व्यवहार किया जा सके- जनता उस निर्मित ज्ञेय का ध्यान, उसकी उपासना, अर्चन कर सके और उसका उपदेश ग्रहण कर सके परेश ऐसा ज्ञेय (ईश्वर आदि) उत्पन्न करता है अर्थात् उस ज्ञेय में परेश ध्यान, उपासना, अर्चन एवं उपदेश का सामर्थ्य प्रदान करता है- **'ध्यानोपासनार्चनोपदेशादिना योजयति'** ('उस ईश्वर को ध्येय, उपास्य, अर्च्य एवं ग्राह्योपदेश रूप में परेश उत्पन्न करता है' यह अर्थ है।)

२. पूर्व कारिका के **'अत एव'** अंश से प्रकृत कारिका के पदों का अन्वय (सम्बन्ध) करके यह व्याख्या की गई है।

एकमात्र संविद् (ज्ञान-स्वातन्त्र्य-प्रकाश) जिनका रूप (स्वभाव) है उन (परेश) के स्वातन्त्र्य (स्वातन्त्र्यशक्ति) के कारण 'यह (स्वातन्त्र्य से युक्त होना और निर्माण का विषय होना) नहीं (हो सकता) है' (ऐसा कहना या मानना) उचित नहीं है। जो (विषय) माया के क्षेत्र में[1] (यथा संसार के प्रसङ्ग में) अतिकठिन (असंभव जैसा) लगता है उस (विषय) के सम्पादन में जो (परेश का) अप्रतिहत (न रोके जाने वाला[2], अनिवार्य) स्वातन्त्र्य है वही 'स्वातन्त्र्य' शब्द से (यहाँ) दिखलाया गया (सङ्केतित) है। 'अत एव' इससे विमर्शशक्ति प्रदर्शित[3] (सङ्केतित) है इसलिये (पुनरुक्त नहीं हुआ) अपुनरुक्त है।

(प्रकृत कारिका संख्या १६ में **'स्वातन्त्र्यात्'** शब्द का प्रयोग है अत: यह प्रश्न उठता है कि पूर्वकारिका-संख्या १५ में 'अत एव' शब्द का भी अर्थ क्या **'स्वातन्त्र्यात् एव'** लिया जाना चाहिये ? तब तो दोनों कारिकाओं में 'स्वातन्त्र्य' अर्थ का लाभ होने से कारिकासंख्या १६ में पुनरुक्ति की प्रसक्ति हुई। इस प्रश्न को ध्यान में रखकर उत्तर दिया जा रहा है कि कारिकासंख्या १५ में 'अत एव' के द्वारा विमर्शशक्ति[4]- रूप (वस्तु, अर्थ) प्रदर्शित है, अत: इस प्रकार अपुनरुक्ति है।)

अथवा (प्रकृत दोनों कारिकाओं का अर्थ करने में १५वीं कारिका के) 'अत एव' (का अन्वय) (१६वीं कारिका के) **'स्वातन्त्र्यात्'** पद (के साथ करके) **अत एव स्वातन्त्र्यात्**[5] इस प्रकार सामानाधिकरण्य के द्वारा श्लोकद्वय (दोनों कारिकाओं) से सम्बन्ध (अन्वय) कर लेना चाहिये। (सामान्यत: कही बात की पुष्टि विशेषरूप[6] में प्रदर्शित करने के लिये-) इस अर्थ में अर्थात् ईशादि सङ्कल्पों में निर्मित ज्ञेय के व्यवहार के विषय में[7] (अब कारिकाकार) उदाहरण प्रस्तुत करते हैं **(ईशादिसङ्कल्पैर्निमाय व्यवहारयेत्'** के द्वारा, जिसका अभिप्राय यह है)। नील आदि निर्माण (निर्मित, रचना) के समान इस (ईश आदि) के स्वतन्त्ररूप में निर्माण प्रसिद्ध न होने के कारण (ऐसे

---

१. **'मायापदे- भेदपदे'** (भास्करी, पृष्ठ २७१)
२. **'अप्रतिहतम्' प्रतीघातरहितम्'** (भास्करी, पृष्ठ २७१)
३. 'विमर्शशक्तिरूपम्' के अन्वय के लिए 'दर्शितम्' पद का योग कर लें- देखें **'दर्शितम्'** (टिप्पणीसंख्या ३७६)
४. **'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा'** (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/११) के 'विमर्श' को **'अत एव' ('अत:' विमर्शात् 'एव')** से ग्रहण किया जा सकता है।
५. पूर्वकारिका के 'अत एव' से परकारिका के 'स्वातन्त्र्यम्' का अन्वय करने पर भी वही अर्थ होगा जो पूर्वलिखित है क्योंकि '**अत एव**' से '**स्वातन्त्र्यम्**' ही अर्थत: गृहीत होता था जो अब परकारिका (संख्या १६) से शब्दत: उपात्त हो जाता है।
६. **'उदाहरणमिति' इति, सामान्ये विशेषरूपम्..........'** (भास्करी, पृष्ठ २७२)
७. अत्रार्थे- **'ईशादिसंकल्पैर्निर्मितज्ञेयव्यवहारविषये'** (भास्करी, पृष्ठ २७२)

किसी निर्माण की प्रसिद्धि नहीं है कि जो परेश के सदृश रचना में स्वतन्त्र हो और 'निर्माण[1]' भी हो। नील एक निर्माण है यह सही है किन्तु नील के समान निर्माण भी हो और वह निर्माण स्वातन्त्र्यशक्ति-युक्त हो ऐसा प्रसिद्ध नहीं है)। प्रमाता, पूजयिता (पूजक), ध्याता (ध्यान करने वाले) को 'ईश्वर- भगवान्- नित्य- विभु- स्वतन्त्र' इत्यादि (रूप में शक्तिमान् परेश) में (स्वयं एवं परेश से) पृथक् हुआ (वह निर्माण क्रमशः) प्रमेय, पूज्य एवं ध्येय लगता है (प्रतीत होता है, अतः वह निर्मित (रचना, बनाया गया) है, किन्तु वह (निर्माण) अनीश्वररूप नहीं है क्योंकि तब तो (यह) 'ईश्वर है' (जिसका हम सङ्कल्प एवं ध्यान आदि[2] (पूजादि) के विषय में तुल्यता हो जायेगी (चाहे ईश्वर का सङ्कल्प या ध्यान करें चाहे अनीश्वर (घट आदि) का दोनों ही समान समझे जायेंगे)। (उक्त शङ्का का समाधान करते हुये कहा जाता है कि) 'ऐसा नहीं है' (कि उभयत्र तुल्यता की आपत्ति होगी) कारण, (दोनों के) फलों में भेद गृहीत होता है (दोनों के फलों में भेद है)। इसलिये स्वातन्त्र्य से शून्यरूप में आभासित होने से और स्वातन्त्र्ययुक्ततारूप में आभासित होने से यह उभय (पूर्वोक्त दोनों) ज्ञेय (विषय) हैं। उन्हें परेश जो स्वीय रूप में आभासित करता है वह (भासन[3]) विमर्शशक्ति के बल से ही (होता) है इसलिये वह (विमर्शशक्ति) ही प्रधान है।

लीला - नील आदि जड पदार्थ ही ज्ञेय नहीं हैं अपितु परेश 'ईश' आदि चैतन्य को भी ज्ञेयरूप में उपस्थित करता है। परेश अपने को ही ईश रूप में बनाता है। ध्यान रहे इन ईश आदि ज्ञेय में कर्तृत्व एवं स्वातन्त्र्य दोनों धर्म रहते हैं। ईश आदि का योगी ध्यान करते हैं, उपासक ईशादि की उपासना करते हैं, पूजक अर्चना-पूजा करते हैं, भक्त उनके उपदेशों को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार परेश की यह सृष्टि उनकी नीलादि जडसृष्टि से सर्वथा भिन्न है।

यदि कोई यह **प्रश्न** करे कि ईशादि में 'स्वातन्त्र्य' भी रहता माना जाये और उस (ईशादि) का (परेश के द्वारा) 'निर्माण भी किया जाना माना जाये यह तो परस्पर विरुदध बात है। जिसका निर्माण किया जाये उसमें स्वतन्त्रता कहाँ ? वह तो बेचारा निर्मित होने के लिए विवश रहता होगा, ऐसा मानना ही पड़ेगा। उक्त प्रश्न के **उत्तर** में कहा गया है कि आत्मा एक है और स्वतन्त्र (संविद्रूप) है[4]। अतः सब कुछ संभव है। जो लौकिकजीवन-

---

१. (i) पाठान्तर है **'स्वतन्त्रनिर्माणस्य'**। इसी की व्याख्या भास्करी में मिलती है।
(ii) **'स्वतन्त्रनिर्माणस्य स्वतन्त्र्यामुक्तात्मरूपेशादिनिर्मिते'** (भास्करी, पृष्ठ २७२)

२. **'आदिशब्देन पूजादेर्ग्रहणम्'** (भास्करी, पृष्ठ २७२)

३. **'तदिति-भासनम्'** (टिप्पणी संख्या ३८२)

४. **''अद्वयात्मनः स्वातन्त्र्यात्' इति षष्ठ्यन्तपञ्चम्यन्तपदद्वयं व्याचष्टे 'संविदेक इति'** (भास्करी, पृष्ठ २७१)

व्यवहार में एवं माया के क्षेत्र में अनहोना लगता है- असंभव लगता है वह परेश के स्वातन्त्र्य (सर्वशक्तिमत्त्व) के कारण संभव होता है- घटित होता है। परेश एक है और स्वतन्त्र है। जब वह स्वतन्त्र कुछ भी करने में सर्वथा समर्थ है, और है भी वह ही, तब उसके लिये क्या निर्माण कर देना संभव नहीं। अतः कोई यह नहीं कह सकता कि **'स्वातन्त्र्ययुक्तं च निर्मीयते च इति विरुद्धम्'**। इसी बातको विमर्शिनीकार ने **'इदं न न युज्यते'** अर्थात् **'युज्यते[1] एव'** जैसा कहा है।

रही कारिका में पुनरुक्ति की बात वह भी इसलिये होती नहीं दिखलाई पड़ रही है कि कारिका की संख्या १५ में **'अत एव'** (इससे ही) शब्द के द्वारा निर्देश किया गया है 'विमर्शशक्ति' का और कारिका संख्या १६ में 'स्वातन्त्र्यात्' शब्द के द्वारा 'स्वातन्त्र्यशक्ति' का, फिर पुनरुक्ति कहाँ हुई।

अथवा 'अत एव स्वातन्त्र्यात्' को दोनों श्लोकों से सम्बद्ध करके अर्थ किया जा सकता है। पुनरक्ति किसी भी स्थिति में न होगी- दोनों ही स्थितियों में न होगी।

परेश की जडचेतनात्मक सृष्टि है। वह परेश ईश (ईश्वर) आदि का भी निर्माण करता है[2]। प्रमाता, पूजयिता तथा ध्याता आदि प्रमेय, पूज्य एवं ध्येय को अपने से पृथक् समझते हैं। इस प्रकार परेश के द्वारा ईश आदि 'निर्मित' तो होते हैं किन्तु उन्हें 'अनीश्वर' कैसे माना जाये क्योंकि तब वह ध्यान में 'ईश्वर' विषय न हो सकेगा। सभी ध्यानों में एवं सङ्कल्पों में विषय 'अनीश्वर' ही रह जायेगा, जब कि ऐसा होता नहीं। कारण अनीश्वर पदार्थ के ध्यान (सेवन) का फल ईश्वर पदार्थ के सेवन के फल से भिन्न माना जाता है। नील आदि ईश्वरभिन्न (अनीश्वर) पदार्थ के सेवन का फल है भोग और ईश आदि के सेवन का फल है मोक्ष[3]। इस प्रकार चूँकि भोग एवं मोक्षरूप फल में भेद है अतः भावपदार्थों के द्वैविध्य होने पर भी परस्परभिन्न होने पर भी परेश की द्विधासृष्टि परेशभिन्न नहीं- आत्मभिन्न नहीं। द्विधाभिन्न वह सृष्टि परेश की विमर्शशक्ति से आभासित होती है, अतः उक्त शक्ति ही प्रधान है।

---

१. **'न न युज्यते, अपितु युज्यते इत्यर्थः'** (भास्करी, पृष्ठ २७१)
२. परेश संकल्प के द्वारा (अर्थात् ईश आदि का संकल्प करके) ही ईश आदि का निर्माण करता है। देखें- **'चिदात्मैव...... प्रकाशयेत्'** (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/७)
३. **'फलभेदस्य-भोगमोक्षरूपस्य, नीलादिसेवनेन हि भोगः, ईशादिसेवनेन हि मोक्ष इति भावः। ये तु भगवत्तीव्रतरशक्तिपवित्रीकृताः नीलादेरपि- 'येन मुह्यन्ति जडः प्राज्ञस्तेनैव तरति संसारात्। पिण्डितमयोप्सु मज्जति तदेव पात्रीकृतं प्लवते।।'' इति दृशा मोक्षफलभागिन एव, तेषां कथान्यैव। तदुक्तम् :-**
'भुक्त्वा भोगान् भवभ्रान्तिं हित्वा लप्स्ये परं पदम्।
इत्याशंसेह शोभेत शंभोर्भक्तिमतः परम्।।' इति।' (भास्करी, पृष्ठ २७२-७३)

(१८)

प्रसङ्ग - परेशनिष्ठ प्रकाश के बल पर पदार्थों के भाव की व्यवस्था होती है। जो जैसा प्रकाशित-आभासित होता है उसको वैसा माना जाता है, यह अस्तित्वशील पदार्थों-भावपदार्थों के विषय में प्राय: व्यवस्था है- सिद्धान्त है। उस प्रकाश का सार है 'विमर्श' ('अहम्' की चेतना- 'अहम्' की भासना)। इस प्रकार जब- विमर्श प्रकाश से अभिन्न है तब तो हम कह सकते हैं कि **'तदेव तत्'** अर्थात् वह (विमर्श) ही वह (प्रकाश) है (प्रकाश और विमर्श एक ही हैं)। पहले कहा गया है[1] कि परेश 'ईश' (ईश्वर) आदिका सङ्कल्प करके अर्थात् तादृशसङ्कल्पमात्र से ही 'ईश' आदि का निर्माण करता है। किसी भी निर्माण का चूँकि 'इदन्तया' प्रकाश होता है अत: प्रकृत ईश्वर का भी परामर्श **'इदन्तया'** होगा- होता है। किन्तु स्वातन्त्र्य (विमर्श) होता है अहंपरामर्शरूप। फलत: सङ्कल्पनिर्मित ईश्वर अहंपरामर्शरूप न हो पाया। इस प्रकार प्रसक्त असङ्गति का परिहार करने के लिये प्रकृत प्रत्यभिज्ञाकारिका (१/५/१७) की रचना की गई है -

ननु प्रकाशबलात् भावव्यवस्था, स च प्रकाशो विमर्शसार इति विमर्शाभेदे तदेव तत् इति वक्तुं युक्तम्, ईश्वर आत्मा इत्यादिसंकल्पेषु च निर्मितस्य इदन्तया परामर्शः, स्वातन्त्र्यं तु अहंपरामर्शरूपम्, इति निर्मितस्य तद्रूपत्वाभावे कथं स्वातन्त्र्यामुक्तम् इति ?, तत् एतत् परिहर्तुमाह-

नाहन्तादि- परामर्शभेदादस्यान्यतात्मनः।
अहंमृश्यतयैवास्य सृष्टेस्तिङ्वाच्यकर्मवत्।।१७।।

स्वरूपे भावप्रत्ययः, आदिग्रहणात् आत्मेश्वरादिपरामर्शः, तिङ्ग्रहणं प्रत्ययोपलक्षणम्, कर्मग्रहणं क्रियावाचिसदसत्त्वभूतशक्तिरूपोपलक्षणम्। तत् अयम् अर्थः- अहम् इत्येवंरूपो यः परामर्शो, यश्च ईश्वरः प्रमाता आत्मा शिव इत्यादिः अनन्तप्रकारः परामर्शः, तस्य यद्यपि भेदोऽन्यान्यरूपता, तथापि तद्भेदात् हेतोः अस्य आत्मनो निर्मातृरूपस्य अहंपरामर्शमयस्य निर्मेयरूपस्य च ईश्वरादिपरामर्शास्पदस्य यो भेदः शङ्कितः, स न युक्तः, यत ईश्वर इत्यपि यः परामर्शः, स ईशनशीले ज्ञातृत्वकर्तृत्वतत्त्वे विश्राम्यति, ज्ञातृत्वादि च ज्ञानादौ, स्वातन्त्र्यम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वम्

---

१. (i) देखें विभागसंख्या १५ से १७ तक
(ii) प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय......' (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१६)

अविच्छिन्नज्ञानादिशक्तियोगः, अविच्छेदश्च जानामि करोमि इति अस्मदर्थविश्रान्तिः इति। अस्य ईश्वरस्य आत्मनः सृष्टेः सृज्यमानस्य अहंविमर्शनीयत्वमेव। सृष्टेः इति वा हेतौ पञ्चमी। अस्य ईश्वरस्य यतः ईश्वरादिसंकल्पेषु अपि अहंपरामर्शनयोग्यस्यैव सृष्टिः। अर्हे कृत्यः। यथा क्रियाकारकसमुच्चयविकल्पादिशक्तयो यथास्वं तिङ् तृतीयादि च वादिप्रयोगावसेयपरामर्शपरमार्थाः पाकः कर्ता समुच्चयो विकल्पः इत्यादिशब्दैः अभिधीयमानाः सत्त्वभावम् आपादिताः अपि, पचति चैत्रेण च वा इत्येवंभूते भूलपरामर्शे विश्राम्यन्ति। अन्यथा तु ताः प्रतीता नैव भवेयुः। तद्वत् अत्रापि। एतदुक्तं भवति- परामर्शो नाम विश्रान्तिस्थानम्, तच्च पार्यन्तिकमेव पारमार्थिकम्, तच्च अहमित्येवंरूपमेव। मध्यविश्रान्तिपदं तु यत् वृक्षमूलस्थानीयं ग्रामगमने तदपेक्षया सृष्टत्वम् उच्यते, — इति को विरोधः। अनेन नीलादेः अपि, इदं नीलम् इति मध्यपरामर्शेऽपि मूलपरामर्शे अहमित्येव विश्रान्तेः आत्ममयत्वम् उपपादितम् एव। नीलम् इदम् अहं वेद्मि इति, अहं प्रकाशे इति हि इयत्तत्त्वम्। यथोक्तम् 'इदमित्यस्य' इत्यादि। मूढस्तु नीलादिविमर्शात् एव अर्थक्रियादिपरितोषाभिमानी, इति नीलादेः स्वातन्त्र्यनिर्मुक्तत्वम् उक्तम्। आत्मादौ तु तन्मूलपरामर्श-विश्रान्तिमन्तरेण प्रतीतिपरिसमाप्तिम् अर्थक्रियां च मूढोऽपि न अभिमन्यत इति तस्य निर्मितौ अपि अनुज्झितस्वातन्त्र्यम् उक्तम्।।१७।।

अर्थ - **विसङ्गति-प्रदर्शन-** प्रकाश के बल पर भाव (पदार्थ) की व्यवस्था है (प्रमेय एक दूसरे से पृथक् समझे जाते हैं) और वह प्रकाश है विमर्शसार ('विमर्श है सार जिसका' ऐसा है 'प्रकाश') इस प्रकार विमर्श के (प्रकाश से) अभेद होने पर भी 'वह (विमर्श) ही वह (प्रकाश) है, ऐसा कहना उचित है। ईश्वर आत्मा आदि सङ्कल्पों में निर्मित (भाव) का परामर्श 'इदन्तया' (अर्थात् अहंभिन्नतया) होता है, जब कि स्वातन्त्र्य है 'अहंपरामर्शरूप'। तब तो जो निर्मित- (यथा ईश्वर) अहंपरामर्शरूप नहीं हो पाता है (निर्मित होने के कारण इदंपरामर्शतया प्रकाशित होता है) और ऐसी स्थिति में वह निर्मित (ईश्वर आदि) स्वतन्त्र[1] कैसे हो पायेगा ? इसी के परिहार के लिये[2] (कारिकाकार) कहते हैं-

---

१. **'निर्मितस्य स्वतन्त्र्यामुक्तत्वम्** = निर्मितः स्वतन्त्र्यामुक्तः = निर्मितः स्वातन्त्र्ययुक्तः = स्वतन्त्रः)।

२. अर्थात् प्रदर्शित प्रकृत विसङ्गति को दूर करने के लिये

जैसे तिङ् का वाच्य कर्म होता है उसी प्रकार (निर्मेयरूप आत्मा 'ईश्वर' आदि) की सृष्टि (निर्माण) अहंविमृश्य (अहंविमर्श के प्रमेय) के रूप में होने के कारण अहंतादिपरामर्श (निर्मातृरूपपरेश अहंपरामर्शमय होता है, निर्मेयरूप आत्मा- 'ईश्वर' आदि इदंपरामर्श होता है। इस प्रकार तत्तत् परामर्श) के भेद से (भिन्नता के कारण-परस्पर भिन्नता के कारण) उस ('ईश्वर' आदि) का अन्य होना (निमातृरूपपरेश से भिन्नत्व) नहीं (माना जा सकता) है॥१७॥

(**अन्वय**- तिङ्वाच्यकर्मवत् अस्य अहंविमृश्यतया एव सृष्टेः अहंतादिपरामर्शभेदात् अस्य अन्यतात्मनः न)।

[अस्य अन्यतात्मनः१ न = अयम् अन्यात्मा न = अयम् अन्यरूपो न (नास्ति) = नास्य अन्यरूपता = नास्य भेदः (निर्मातृपरेशतः)]

'अहंता' शब्द में जो भावप्रत्यय[२] (ता- तल्) का प्रयोग किया गया है वह स्वरूप अर्थ में है 'भाव' अर्थ में नहीं है अर्थात् वह धर्मी 'अहं' की ओर सङ्केत करता है धर्म की ओर नहीं[३]। **'अहंतादि....'** पद में **'आदि'** से आत्मा, ईश्वर इत्यादि का परामर्श होता है (आत्मा, ईश्वर आदि अभिप्रेत हैं)। कारिका में 'तिङ्' के ग्रहण से प्रत्यय का उपलक्षण होता है ('तिङ्' से 'प्रत्यय'- धातु से होने वाले तिप् - तस् - झि आदि सभी प्रत्यय, कोई भी ऐसा प्रत्यय गृहीत होगा।) यहाँ 'कर्म' का अर्थ है वह 'शक्ति' जो क्रियाबोधिका होने के साथ ही द्रव्यभिन्ना (असत्त्वभूता) हो। तो अर्थ यह (इस प्रकार) है-

'अहम्' इस प्रकार क़ा जो परामर्श है, और जो ईश्वर, प्रमाता, आत्मा, शिव इत्यादि अनन्तप्रकार का परामर्श है, उसके माना कि (यद्यपि) भेद अर्थात् विविध (तरह तरह के) रूप होते हैं, फिर भी (तथापि) उस भेदरूपी हेतु से (ऐसे भेद को कारण मानकर) अहंपरामर्शमय निर्मातृरूप इस आत्मा (परेश) एवं ईश्वर आदि परामर्श का विषय होने वाले निर्मेय (ईश्वर आदि) के भेद की शङ्का (की जाती) है वह न्याय्य (युक्त) नहीं है क्योंकि (यतः) 'ईश्वर' यह भी तो परामर्श है उसका विश्राम ईशनशील (जिसमें ईशत्व हो, ऐश्वर्य हो, एतादृश स्वभावयुक्त) ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व तत्त्व में होता है, ज्ञातृत्व है ज्ञान आदि में स्वातन्त्र्य अर्थात् अनन्यमुखप्रेक्षित्व जिसका अभिप्राय है 'अविच्छिन्नरूपेण

१. विमर्शिनीकार ने 'अन्यात्मनः' को शब्दतः पुरस्कृत न करके भी इसका अर्थ 'भेद' (यो 'भेद' शङ्कित :- पृष्ठ २१९) किया है।
२. **'भावप्रत्ययः- तल्प्रत्ययः'** (टिप्पणीसंख्या ३८७)
३. (i) **'तल्' अर्थमाह 'स्वरूपे' इति, न तु भावे, असंबन्धात्। स्वरूपं हि धर्मी भावस्तु स्वरूपगतः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतो धर्मः, इह च धर्म्येवोपयुक्तः'** (भास्करी, पृष्ठ २७३)
(ii) **'अहमित्यव्ययम् अव्यतिरिक्ते प्रकाशे वर्तते तस्य भावः अहमिति स्वरूपविमर्शलक्षणोऽहन्ता सैव प्रकाशस्य निजं लक्षणम्'** (टिप्पणीसंख्या- ३८६)

ज्ञान आदि शक्तियों का योग' और 'अविच्छेद' है **'जानामि'** (मैं जानता हूँ) **'करोमि'** (मैं करता हूँ) आदि अस्मदर्थ ('मैं' इस अर्थ) में आश्रित होना (विश्रान्ति)। (अब कारिका के 'अस्य सृष्टेः अहंविमृश्यतया एव' की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है)। 'अस्य' = ईश्वस्य, आत्मनः, सृष्टेः = सृज्यमानस्य, 'अहं विमृश्यतया एव' = अहं विमृश्यत्वेन एव। इसी को इन शब्दों के द्वारा बोध्यगम्यरूप में रख सकते हैं- 'सृज्यमानस्य अस्य (ईश्वरस्य) अहंविमर्शनीयत्वमेव' अर्थात् परेश के द्वारा निर्मीयमाण ईश्वर (आदि) भी अहंपरामर्शास्पद ही है। अथवा 'सृष्टेः[1]' पद (को षष्ठयन्त न मानकर यहाँ') हेतु अर्थ में 'पञ्चमी' (विभक्ति) मानी जाये। (ऐसी स्थिति में अर्थ होगा) इस ईश्वर की 'ईश्वर आदि सङ्कल्पों' में भी यतः अहंपरामर्शनयोग्यरूप में[2] ही सृष्टि[3] होती है। 'कृत्य' (प्रत्यय) का अर्थ अर्ह[4] (योग्य) होता है। जैसे[5] क्रिया, कारक, समुच्चय एवं विकल्प आदि (उपमा[6] आदि) शक्तियाँ। क्रमशः (यथास्वम्[7]) 'तिङ्' 'तृतीया' आदि, 'च' एवं 'वा' आदि के प्रयोग से द्योत्य परामर्शरूप (विचाररूप) ही वस्तुतः (परमार्थतः हैं (अथ च) पाक, कर्ता, समुच्चय, विकल्प आदि शब्दों से अभिहित होते हुये माना कि सत्त्वरूप में (द्रव्यरूप में) मानी जाती है।, **पचति, चैत्रेण, च, वा** शब्दों द्वारा सङ्केतित मूलपरामर्श (मूलचेतना-मूलविचार) में विश्राम लेती हैं (तद्रूपता के कारण अपने मूलरूप मूलपरामर्श में जाकर शान्त हो जाती हैं), अन्यथा वे (शक्तियाँ[8]) ज्ञात ही न हो पायें, उसी प्रकार[9] यहाँ भी

---

१. सृष्टेः = सृष्टि + ङसि (हेतु अर्थ में) = सृष्टि के कारण
२. कारिकागत पद 'अहंमृश्यतया' यहाँ 'मृश्य' में 'कृत्य' प्रत्यय है। 'कृत्य' प्रत्ययों के अन्तर्गत तव्यत्, अनीयर्, केलिमर्, यत्, क्यप्, ण्यत् एवं तव्य ये सात प्रत्यय आते हैं। 'मृश्य' में 'क्यप्' नामक कृत्यप्रत्यय है- (देखिये सूत्र- **'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृते'**, अष्टाध्यायी- ३/१/११०)। 'कृत्य' शब्द का अर्थ है 'किये जाने योग्य'।
३. (i) सृष्टिः = √सृज्' + 'क्तिन्' प्रत्यय (कर्मणि)
(ii) **'एतेन कर्मणि क्तिन्निति द्योतितम्'** (भास्करी, पृष्ठ २७६)
४. **अर्हे कृत्यः मृश्यतया इत्यत्र'** (टिप्पणीसंख्या- ३९१)
५. **'यथा.....भवेयुः। तद्वत् अत्रापि'**। यहाँ स्वकथन की पुष्टि में साम्यप्रदर्शन ('यथा'....'तद्वत्') को साधन बनाया गया है।
६. **'आदि शब्देनोपमादेर्ग्रहणम्'** (भास्करी, पृष्ठ २७६)
७. **'यथास्वं क्रमेण'** (टिप्पणीसंख्या ३९२)
८. **'ताः- शक्तयः'** (टिप्पणीसंख्या ३९५)
९. **''....'तद्वत्' इति। एवं च तिङ्वाच्यकर्मणीव तिङ्वाच्यकर्मवत् इति संक्षेपः। एतदुक्तं भवति। यथा पाक इति परामर्शः तिङ्वाच्ये कर्मणि पचतीत्येवंरूपपरामर्शे एव फलतो विश्राम्यति, तथेश्वर इत्युक्तेऽहंपरामर्शे एव फलतो विश्रामः, अन्यत्र स्वातन्त्र्यरूपेश्वरत्वासंभवात्, यस्तु मूढानां पाकादिसिद्धत्वे ईश्वरविषये च स्वतो भिन्नत्वेन निश्चयः स भ्रम एवेति।'** (भास्करी, पृष्ठ २७८)

है। परामर्श (का अर्थ) है विश्रान्ति का स्थान (जहाँ जाकर विचार रुक जाये) और वस्तुतः वह (विश्रामस्थान) सातत्ययुक्त[1] ही सत्य होता है समीपवर्ती ही होता है, न कि सव्यवधानेन और वह 'अहंरूप' ही है। मध्यमविश्रान्तिस्थान तो वह है जैसे ग्रामगमन में वृक्षमूलस्थान हो, जो कि उस (पार्यन्तिकविश्रामस्थानरूप अहंपरामर्श) की अपेक्षा वह सृष्ट (निर्मित) कहा जाता है तो विरोध कहाँ है ? इसी प्रकार 'नील' आदि का भी 'यह नील है' इस प्रकार मध्यमपरामर्श मूलपरामर्श में 'अहं'-रूप द्वारा विश्रान्ति पाकर आत्ममय हो जाता है, इस विषय का समर्थन किया जा चुका है। 'इस नील को मैं जान रहा हूँ' और 'मैं प्रकाशित हो रहा हूँ' यह तथ्य है (दोनों एक ही हैं- दोनों का अर्थ एक ही है) जैसा कि 'इदमित्यस्य' इत्यादि कहा जा चका है (विमर्शिनी- १/१/१ एवं १/५/१२ में)। मूढ व्यक्ति तो 'नील' आदि के विमर्श से ही अर्थक्रिया आदि से होने वाले सन्तोष का अभिमान कर लेता है (सन्तोष का भ्रम पाल लेता है) इसलिये (कारिका में) 'नील' आदि को स्वातन्त्र्यरहित कह दिया गया है। किन्तु आत्मा आदि के विषय में मूढ व्यक्ति भी तब तक प्रतीति की समाप्ति एवं अर्थक्रिया का अभिमान नहीं करता जब तक आत्मादिविमर्श अपने मूलपरामर्श में विश्राम नहीं ले लेता, इसलिये इस निर्माण (सृष्ट) में भी अनुज्झितस्वातन्त्र्य (स्वातन्त्र्यामुक्तत्व[2]) कहा गया है।

लीला- प्रकाश है (विषय का) बोध (झलक, ज्ञान) और विमर्श है 'अहम्' का प्रकाश। सब प्रकाशों का सार है विमर्श क्योंकि यहाँ 'अहम्' में विश्रान्ति प्राप्त होती है। तुष्टि 'अहम्' में पहुँचकर होती है। परामर्श है बोध या प्रकाश का 'सम्बन्ध'। प्रकाश की भिन्नता से वस्तु की भिन्नता पर विश्वास किया जाता है। घटत्वेन प्रकाशित होने पर 'घट' और उससे भिन्न- पटत्वेन प्रकाशित होने वाला तद्भिन्न (घटभिन्न) 'पट' रूप में निर्धारित होता है। इस प्रकार प्रकाश के बल पर भाव (यह वस्तु है, ऐसी है,- अस्तित्व) की व्यवस्था होती है। विमर्श भी एक प्रकार का महत्त्वपूर्ण या यह कहा जाये कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकाश है। यह प्रकाश है 'अहम्' का- अहन्तया। इस प्रकार प्रकाशत्वेन दोनों (प्रकाश एवं विमर्श) एक हुये।

यहाँ एक **प्रश्न** उपस्थित होता है- परेश सङ्कल्प में ईश्वर, आत्मा आदि की सृष्टि करता है अर्थात् ईश्वर आदि को उत्पन्न करता है (अपने से ही) और सृज्यमान का परामर्श (स्पर्श, सम्बन्ध) होता है 'इदम्' (यह) के रूप में- इदन्तया। किन्तु स्वातन्त्र्य है अहंपरामर्शरूप। अर्थात् परेश अहंपरामर्शरूप है। इसका अर्थ यह हुआ कि उक्त संकल्पसृष्ट

---

१. देखें 'परिशेषिका' में 'पार्यन्तिक' शब्द

२. (i) **'अहं विमृश्यतयैवास्य सृष्टेः ....**

(ii) **'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं ....निर्माय व्यवहारयेत्'** (प्रत्यभिज्ञाकारिका-१/५/१६)

ईश्वर आदि को स्वातन्त्र्यपरामर्शरूप नहीं होना चाहिये। तब १६वीं कारिका में उसे 'स्वातन्त्र्यामुक्त' (स्वतन्त्र) क्यों कहा क्योंकि **'इदन्तया'** जिसका परामर्श हो वह स्वातन्त्र्य से अमुक्त (युक्त) कहाँ हो सकेगा। निर्मितस्य = सङ्कल्पनिर्मितस्य ईश्वरादेः (तद्रूपत्वाभावे अहंपरामर्शरूपत्वाभावे)।

उक्त प्रश्न का **उत्तर** प्रकृत कारिका में दिया गया है कि ईश्वर सृष्ट तो है परेश[1] के संकल्पद्वारा किन्तु अहंपरामर्शयोग्यतासंवलित-रूप में ही सृष्ट है अर्थात् सृष्ट होने पर भी वह अहंपरामर्शरूप[2] है- स्वातन्त्र्ययुक्त भी है। परमेश्वर के द्वारा ईश्वर सृष्ट होता है सही किन्तु स्वातन्त्र्यामुक्त (स्वातन्त्र्ययुक्त)- रूप में ही सृष्ट होता है। यही तो परेश का स्वातन्त्र्य है कि वह ईश्वर का निर्माण करता है सङ्कल्प के द्वारा और वह ईश्वर स्वातन्त्र्ययुक्तरूप में सृष्ट होता है।

कारिका में प्रयुक्त 'अहंता' पद में 'अहम् + ता (तल्)' प्रत्यय है। 'तल्' प्रत्यय भावप्रत्यय है[3] और वह भी यहाँ स्वरूप अर्थ में है- धर्मी अर्थ में है, 'धर्म' अर्थ में नहीं अर्थात् 'अहंता' का अर्थ है यहाँ 'अहंस्वरूप' (अहंरूप = 'अहम्)। 'अहंता' भाव अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है अर्थात् 'अहंता' = 'अहंभाव' नहीं, अहंधर्म नहीं[4]।

यद्यपि ईश्वर सृष्ट है तथा 'ईश्वर' का जो परामर्श (विचार, स्मरण, बोध) होता है उससे समझा जाता है कि वह ईशनशील[5] है- ज्ञाता और कर्ता है अर्थात् वह स्वतन्त्र है

---

१. प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमार्थ तत्त्व अद्वैत (शिवाद्वैत) है अर्थात् परमशिव (परेश) मात्र एक-अद्वैततत्त्व है। उसी अद्वैत तत्त्व को 'परेश', 'परमेश्वर' 'परमात्मा' आदि कहा जाता है। वह परेश ही अपने ही (सङ्कल्पों के द्वारा अपने में अपने को ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त (उत्पन्न) करता है- **'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय-२)। यह संसार परेश का संकल्प है। जो उसका सङ्कल्प है वह हमारा यथार्थ है। कुम्भकार को घट बनाने के लिये मिट्टी आदि उपादान कारण चाहिये, सूत्रचक्रादि निमित्तकारण भी चाहिये, किन्तु परेश को कुछ नहीं चाहिये। विश्व को रचने में वह उपादानादिकारणसापेक्ष नहीं है। वह सब कुछ बनाने में सर्वशक्तिमान् है, यही उसकी सर्वशक्तिमत्ता है उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है।

२. अहंमृश्यतया = **'अहमिति म्रष्टुं योग्य :- अहंमृश्यः, तस्य भावस्तत्ता तयेत्यर्थः, पूर्वपक्षे कर्मणीतिभावः'** (भास्करी, पृष्ठ २७६)। यहाँ 'कृत्य' का अर्थ है- अर्ह (योग्य), न कि कर्म। अर्थात् यहाँ यह अर्थ पूर्वपक्ष का होगा कि 'मृश्' धातु से होने वाले 'कृत्य' प्रत्यय का अर्थ 'कर्म' है।

३. यहाँ विषय अधिक स्पष्ट समझने के लिए 'अर्थ' देखें।

४. **'तल्' अर्थमाह....इह च धर्म्येवोपयुक्तः'** (भास्करी, पृष्ठ २७३)- देखें 'अर्थ' में उदधृत।

५. **'ईशनशीले' = ईशनम्- समर्थीभवनक्रिया, शीलम्-निष्प्रयोजना प्रवृत्तिर्यस्य तादृशे'** (भास्करी, पृष्ठ २७५)

क्योंकि उसमें अनन्यमुखप्रेक्षित्व[१] नहीं है अपने कार्यव्यापार में। 'ईश्वर' शब्द की निष्पत्ति 'ईश्' धातु से 'वरच्' प्रत्यय लगाने से होती है- 'ईश्वर' = √ईश् + वरच्'। जब तक ईश्वर का अर्थ उसमें रहने वाले 'ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व' को नहीं समझ लिया जाता 'अर्थबोध पूरा हो गया' ऐसा नहीं माना जाता- विश्रान्ति (विराम) नहीं मानी जाती[२]। अभिप्राय यह है कि 'ईश्वर' वही होगा जिसे 'अहंपरामर्श' होगा- जो अहंपरामर्श होगा।

शक्तियाँ-	**शक्ति**	**सत्त्वबोधक शब्द**	**वाचक**	**विश्रान्तिपद** (आश्रयभूत-मूलपरामर्श)
(१)	क्रियाशक्ति	पाक:	तिङ्	पचति
(२)	कारकशक्ति	कर्ता	तृतीया	चैत्रेण
(३)	समुच्चयशक्ति	समुच्चय:	च	च
(४)	विकल्पशक्ति	विकल्प:	वा	वा

क्रियाशक्ति कारकशक्ति, समुच्चयशक्ति एवं विकल्पशक्ति ये सभी शक्तियाँ हैं। वैसे इनका जो अभिधान शक्तिरूप में न होकर 'पाक' (√पच् + घञ्) = एक द्रव्य[३] के रूप में भी समझा जाता है। वस्तुत: 'तिङ्' प्रत्यय ('धातु+प्रत्यय[४]' दोनों को मिलाकर)

---

१. आत्मा से 'अनन्य' तो आत्मा (अहम्) ही हुआ। अत एव ईश्वर का अहंविमर्शनीयत्व सिद्ध होता है, माना कि वह परेश द्वारा 'सृष्ट' है।

२. **'विश्राम्यति' इति। ईश्धातो: कर्तरि कृत्प्रत्ययोत्पादादिति भाव:'** (भास्करी, पृष्ठ २७५)

३. जैसे **'मूसलीपाक:'** यहाँ द्रव्यरूप में 'पाक' शब्द का अर्थ होगा। वस्तु जो पकाकर तैयार की गई है पाकशब्दवाच्य है यथा 'मूसलीपाक', 'एरण्डपाक' आदि। यद्यपि 'पाक' शब्द का अर्थ पचन क्रिया भी होता है, तथापि द्रव्यबोधक भी 'पाक' शब्द होता है, 'घञ्' प्रत्यय दोनों अर्थों (द्रव्य एवं क्रिया) में प्रयुक्त होता है।

४. नियम है कि 'प्रत्यय' का अर्थ 'प्रकृति' एवं 'प्रत्यय' दोनों मिलकर करते हैं- **'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं' सह ब्रूत:'**, अत: यहाँ प्रत्यय ('तिङ्') के ग्रहण होने से 'तिङ्' का अर्थ दोनों 'प्रकृति (धातु)+तिङ् (प्रत्यय)' मिलकर करेंगे। ध्यान रहे यहाँ 'प्रत्यय' (तिङ्) से मात्र 'तिङ्' ही नहीं गृहीत होंगे अपितु धातु से होने वाले अन्य प्रत्यय ('कृत्' प्रत्यय) भी गृहीत होंगे। अर्थात् 'तिङ्' मात्र के प्रयोग से उपलक्ष्य हुआ 'प्रत्यय' एवं प्रत्यय से उपलक्ष्य हुआ 'कृत्' प्रत्यय, क्योंकि 'कृत्' प्रत्ययों का क्रिया में प्रयोग होता है, यथा 'घञ्' प्रत्यय कृत्प्रत्यय है, इसका क्रिया अर्थ में प्रयोग होता है। '√पच्+घञ्' = पाक:। यहाँ पाक का अर्थ है पकना (**'पचनम्' क्रिया-'पाको हि भावविहितघञन्तत्वेन क्रियामभिदधाति'**- भास्करी, पृष्ठ २७७)। वैसे 'घञ्' प्रत्यय सत्त्वार्थक भी होता है, जब पाक का अर्थ होगा 'पाक' (द्रव्य), यथा 'भूसली' पाक आदि। इसीलिये कहा है- 'सत्त्वभावमापादिता:'।

से क्रिया शक्ति का बोध होता है, तथापि व्यावहारिक जीवन में '**पचति**[१]' आदि ही का ग्रहण होगा, न कि '**पाक:**' का। 'धातु+तिङ्' कहने से व्यापार का निर्वाह होगा। अन्यथा शक्ति की प्रतीति होगी ही नहीं। अत: विश्रान्तिपद 'पचति' है, 'पाक:' नहीं। इसी प्रकार कारकशक्ति के सम्बन्ध में समझना चाहिये। रहा 'पाक' आदि द्रव्य का बीच में जो बोध होता है वह ('पाक' आदि) तो मध्यमविश्रामपद है।

उक्त कथन का अभिप्राय इस प्रकार समझें- जैसे ग्रामगमन में अर्थात् गाँव जाने में विश्रान्तिपद तो ग्राम है, वहीं जाकर व्यक्ति रुक जाता है- विश्रान्ति का लाभ करता है क्योंकि गन्तव्य (ग्राम) ही विश्रान्तिपद रहेगा। किन्तु ग्रामगमन में यदि व्यक्ति कहीं वृक्ष के नीचे छाया में थोड़ी देर रुक जाता है तो वह स्थान (वृक्षमूल) हुआ 'मध्यविश्रान्तिपद' अर्थात् 'बीच में ठहरने का स्थान', न कि गन्तव्य (विश्रान्तिपद, चरमविश्रान्तिपद)। यहीं तक आकर यात्रा (गमन) समाप्त न होगी। वह तो होगी ग्राम पहुँचकर ही। इसी प्रकार जो ईश्वर के विषय में 'सृष्ट' कहा जाता है और उससे इदन्तया परामर्श माना जाता है उसे मध्यमविश्रान्तिपद समझना चाहिये और अहंतापरामर्श को पारमार्थिक समझना चाहिये- 'विश्रान्तिपद' समझना चाहिये।

यही स्थिति 'नील' आदि पद की समझनी चाहिये अर्थात् वस्तुत; 'नील' आदि पद भी मध्यमविश्रान्तिपद है, पूर्णविश्रान्ति तो अहंपरामर्श में ही है, यथा '**नीलम्[२] इदम्, अहं वेद्मि**। इसी प्रकार '**अहं प्रकाशे**' यहाँ भी स्वरूप में स्वयं में- आत्मा में '**अहंरूपेण**' विश्रान्ति होती है। इस प्रकार जो भी '**इदम्**' है उसका विश्रान्तिपद 'अहम्' है। ध्यान दें तो नीलपरामर्श भी चैतन्य को ही होता है, जड को नहीं। 'नील' आदि आत्मभिन्न नहीं है, यदि आत्मभिन्न होता है तो उसका बोध- उसका परामर्श ही न होगा-

---

१. '**पचति**' से '**अयं पचति**' का बोध होकर क्रियाशक्ति का अभिधान हो जाता है, जबकि 'पाक:' को विश्रान्तिपद नहीं माना जा सकता- '**अनेन पाक: क्रियते इति ह्युक्ते पचत्ययमिति परामर्शे सद्यो विश्रान्तिजयिते, न हि पाको नाम सिद्धं वस्तु कुत्रापि तिष्ठति पूर्वापरीभूतावयवत्वेन सिद्धत्वासंभवात्, तिङ्प्रत्ययस्य तु तत्रैव सङ्केतितत्वात् झटिति प्रत्यायकत्वात्, मूलत्वं च तत एव प्रथमं क्रियापरामर्शोत्पादात्**' (भास्करी, पृष्ठ २७७)

२. बाह्य पदार्थ का उदाहरण प्राय: 'नील' कहकर (नीलादि) इसलिये दिया जाता है कि नीलरूप' है जो चक्षुर्मात्रग्राह्य है- '**चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्**' (तर्कसंग्रह) और सर्वाधिक स्पष्ट (चटक,) रूप भी नील (नीला, काला) ही होता है। अत: नील उदाहरण अत्यधिक उपयुक्त है।

'यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत'[1] (पराप्रावेशिका, पृष्ठ २)

अज्ञानी लोगों को विश्रान्तिपद के विषय में भ्रम होता है अतः वे **'अहम्'** को विश्रान्तिपद न मानकर अर्थक्रिया (व्यावहारिक उद्देश्य) में सन्तोष का अभिमान कर लेते हैं। किन्तु भ्रम को यथार्थज्ञान नहीं माना जाता है। 'नील' आदि जड पदार्थों के अतिरिक्त आत्मा के सम्बन्ध में मूढ भी भ्रमग्रस्त नहीं होता, क्योंकि (आत्मा एवं आत्मगुणों तथैव आन्तर विषयों में) अहंविमर्श में ही उसे परितोष होता है। कारण, आत्मा विमर्शमय भी है। अतः ईश्वर स्वातन्त्र्ययुक्त ही सृष्ट होता है।

(१९)

प्रसङ्ग - यदि 'विमर्शशक्ति ही सवर्तः प्रधान है- **'अहम्'** परामर्श में ही सबको विश्रान्तिलाभ होता है तो फिर यह (विमर्शशक्ति के अतिरिक्त) ज्ञान, स्मृति आदि को परेश की शक्ति के रूप में क्यों महत्त्व प्रदान किया जाता है ? उक्त शङ्का का निवारण इस विभाग के विवेचन से हो सकेगा -

ननु एवं विश्वपरामर्शानाम् अहम् इत्येव विशुद्धैकपरामर्शविश्रान्तिरेव तत्त्वम् तत् कथम् इदम् उच्यते- ज्ञानस्मृत्यादिका अस्य शक्तय इति, ज्ञानस्य च निर्णयसंशयभेदा नीलादीनाम् वैचित्र्यम् ? इति आशङ्कायां परिहारमाह

मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः।।१८।।

अनुपपन्नम् अवभासनं माया इति उच्यते, ततश्च भिन्नं प्रकाशात् सर्वम् अवभासजातं माया, तत्र च चित्तत्त्वस्यैव स्वातन्त्र्यं मायाशक्तिः, तया भिन्नं यत् संवेद्यं प्रमातुश्च अन्योन्यतश्च, मायाशक्त्या भिन्नेन प्रमातुः अन्योन्यतो वेद्याच्च करणवर्गेण यत् संवेद्यं स एव गोचरो- विश्रानितपदं यस्याः तादृशी सती सैव प्रत्यवमर्शात्मा चितिः परावाग्रूपा, ज्ञानम् इति, संकल्प इति, अध्यवसाय इति च उच्यते, आदिग्रहणात् संशयः स्मृतिः

---

१. (i) इसी भाव को इस शब्दों में कहा गया है- 'Knowledge could not be possible if the object were really different from the subject.' (Kashmir Śaivism) page 113

(ii) **'यद् दृश्यं यच्च संस्पृश्यं यद्घ्रेयं रस्यमेव यत्।**
यच्छ्राव्यं तच्छिवव्यक्तेस्तच्छिवत्वेन संश्रित।।' (शिवदृष्टि- ७/१०२)

इत्यादि। तथाहि- यत् इन्द्रियेण स्फुटग्राहिणा बाह्येन विषयेण स्फुटेन च नियन्त्रितं संवित्तत्त्वं तत् ज्ञानम्। मनसा विषयेण च अस्फुटेन संकल्पः। बुद्ध्या विषयेण च विषयत्वपर्यन्तभाजा अध्यवसायो निश्चयः। विषयस्य च यत् भिन्नत्वं बहिरन्तःकरणानां च तत्प्रकाशाभेदात् अनुपपन्नं चित्तत्त्वेन आभास्यते, इति भेदे यतो विश्रान्तिः, न तु भेदस्य अभेदे ईश्वरसदाशिवादिवत्, ततो ज्ञानसंकल्पादयो भिन्नाः तस्य अप्रध्वस्त-स्वस्वभावाभेदस्य संवित्तत्त्वस्य अनुसंधातुः शक्तय इति उक्ताः, संशयादयश्च भिन्ना नीलादिवैचित्र्यं च इति सर्वम् अखण्डितम्।।१८।।

अर्थ - शङ्का- इस प्रकार (विभागसंख्या १८ में किये गये प्रतिपादन के अनुसार[1]) यदि सभी परामर्शों (विचारों) का **'अहम्'** यही एक विशुद्ध परामर्शरूप विश्रान्तिपद है- विश्राम-तत्त्व है (अहंपरामर्श में ही सभी की विश्रान्ति हो जाती है) तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि 'ज्ञान' 'स्मृति' आदि इस (परेश) की शक्तियाँ हैं और उनके निर्णय, संशय (आदि) भेद एवं 'नील' आदि (बहुतों) का वैचित्र्य[2] (इस परेश की शक्ति हैं, यह कैसे कहा जा सकता है[3]) ? इस आकाङ्क्षा का परिहार करने के लिये (कारिकाकार) कहते हैं-

विभु (परेश) की मायाशक्ति से वही (विमर्शशक्ति[4],) जिससे परेशभिन्नरूप में ज्ञेय विषयों का परामर्श होता है 'ज्ञान' 'सङ्कल्प' 'अध्यवसाय' आदि नामों से कही गई है॥१८॥

जो अवभासन (तत्त्व) उपपन्न (सिद्ध) न हो सका हो वह 'माया' कहा जाता है और इसीलिये (ततश्च) प्रकाश (आत्मप्रकाश) से भिन्न (जो भी) अवभासन (है) सभी माया है, और इसलिये (ततश्च[5]) प्रकाश (परेश) से भिन्न प्रत्येक अवभास[6] (ज्ञान,

१. देखें विभागसंख्या १८ में विषय का प्रतिपादन
२. 'नील' आदि अनेक (अनन्त) ज्ञान होते हैं या हो सकते हैं, वे सभी ज्ञान के प्रभेद हैं- 'ज्ञान'- पदग्राह्य हैं।
३. (i) **'कथं शक्तिरुच्यते इति संबन्धः'** (भास्करी, पृष्ठ- २८०)
(ii) यदि एक (अहंपरामर्श) से ही कृतकार्य हुआ जा सकता है तो अनेक तत्त्वों की मान्यता उचित नहीं है क्योंकि तब' 'गौरव' दोष आपन्न होता है।
४. **'सैव-विमर्शशक्तिः'** (टिप्पणीसंख्या ३९८)
५. **'ततश्च-तस्माच्च'** (भास्करी, पृष्ठ २८१)
६. **'अवभासजातम्'** = बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी प्रकार के सभी अवभास- **'अवभासजातम्-नानाविधबाह्याभ्यन्तरभावविषयो ज्ञानसमूहः'** (भास्करी, पृष्ठ २८१)

उन्मेष, अभिव्यक्ति) माया है। चित्तत्त्व (परेशप्रकाश) की अवभासन (प्रकाशन, उद्भावन, प्रकटीकरण) में स्वतन्त्रता (समर्थता- अनन्यमुखप्रेक्षित्व) है 'माया-शक्ति'। उस मायाशक्ति[१] के द्वारा प्रमाता से भिन्न (बनाये गये) जो संवेद्य (प्रमेय) एवं (वे प्रमेय जो प्रमाता से भिन्न होते हुये भी) परस्पर भिन्न (बनाये गये) हैं (जैसे, घट-पट)। (अभिप्राय यह है कि-) मायाशक्ति के कारण प्रमाता (परेश) से तथा परस्पर भी जो प्रमेय भिन्न कर दिये गये हैं और जो करणावर्ग[२] (ज्ञानेन्द्रियों एवं अन्तःकरण) के द्वारा ज्ञेय हैं वही[३] गोचर (विषय) अर्थात् विश्रान्तिपद है जिसका वैसी (तादृशी) होने वाली वही प्रत्यवमर्शरूपा चिति (संविद्) जो 'परावाक्' रूपा है, 'ज्ञान', 'संकल्प' एवं 'अध्यवसाय' (आदि नामों द्वारा) कही जाती है। (कारिका में) 'आदि' (शब्द) के ग्रहण (प्रयोग) से संशय, स्मृति इत्यादि गृहीत होते हैं।

इस प्रकार समझें- स्फुट (साफ़) विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय एवं स्फुट बाह्य विषय से नियमित जो संवित्तत्त्व होता है वह (कहलाता) है 'ज्ञान'। मन तथा अस्फुट विषय से नियन्त्रित संवित्तत्त्व है संकल्प। बुद्धि एवं विषयत्वपर्यन्तविशिष्ट विषय से (होने वाला) निश्चय है 'अध्यवसाय'। विषय तथा बाह्यकरण एवं अन्तःकरण जो (प्रकाश से) भिन्न (बतलाये जाते) हैं उनका प्रकाश से अभेद होने के कारण भिन्न होना उपपन्न (सिद्ध) नहीं होता, क्योंकि उनका आभास 'चित्' तत्त्व के द्वारा होता है, इस प्रकार विश्रान्ति तो भेद में होती है, न कि अभेद में भेद की विश्रान्ति होती है, जैसे कि ईश्वर, सदाशिव आदि (की स्थिति में अर्थात् अभेद की स्थिति में- यहाँ सदाशिव आदि में भेद के दर्शन नहीं होते। प्रकृत में वास्तविक भेद नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ भी प्रकाशाभेद की- अभेद की स्थिति है)। इसलिये ज्ञान, संकल्प आदि भेद, संशय आदि (ज्ञान के) भेद तथा 'नील' आदि ज्ञान का वैविध्य (विविधज्ञान) उसी अनुसंधाता पराम्रष्टा (संविद्) की शक्तियाँ हैं जिसका - (संविद् का) स्वकीय स्वभाव अभेदरूपता नष्ट नहीं होता, ऐसा कहा गया है[४]। यह सब (माया) से अभिन्न[५] है।

लीला - यदि समस्त विश्व अहंपरामर्शरूप ही है परेश के लिये, तो ज्ञान-स्मृति आदि परेश की शक्तियों का उपयोग ही क्या है ? 'अहम्' परामर्श में ही सबकी विश्रान्ति

---

१. **'मायाशक्त्याभिन्नसंवेद्यगोचरा'** इस कारिकांश की व्याख्या करने के लिये पहले 'माया' के स्वरूप का निरूपण किया, पुनः मायाशक्ति की। फिर अन्वय के साथ अग्रिम पद की व्याख्या की- **'तया भिन्न.......गोचरो........तादृशी सती'** पदों के द्वारा।
२. **करणवर्गेण बाह्यान्तररूपेण करणसमूहेन'** (भास्करी, पृष्ठ २८१)
३. **'सः - भिन्नं संवेद्यं च भावजातं च'** (भास्करी, पृष्ठ २८१)
४. देखिये प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१५-१६
५. **'अखण्डितम्- अभिन्नम्'** (टिप्पणी संख्या- ४०५)

हो जाती है, तब (परेश की) अनन्त शक्तियों का उपयोग ही क्या है ? फलतः उनका महत्त्व ही क्या है ? यह है शङ्का का स्वरूप[1]। इसी शङ्का को मन में रखकर उस (शङ्का) के निरास करने के लिए प्रकृत कारिका (संख्या १८) का प्रणयन उत्पलाचार्य ने किया है।

जिसके कारण जागतिक वस्तुयें (घट-पटादि) आत्मभिन्न प्रतीत होती हैं तथा (घट-पटादि) परस्पर भिन्न प्रतीत होती हैं। वह है विभु (परेश) की मायाशक्ति (स्वातन्त्र्यशक्ति) इसी को विमर्श भी कहते हैं। ज्ञान, स्मृति आदि जो शक्तियाँ वे इसी विमर्शशक्ति के प्रभेद हैं। सा (वह) ही (एव) **'ज्ञान' 'संकल्प' 'अध्यवसाय'** आदि नामों से कही गई है **(ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः कथिता)**। यहाँ 'सा एव' का अर्थ है वही विमर्शशक्ति[2]। अर्थात् ज्ञान, स्मृति आदि परेश की शक्ति 'विमर्श' के ही प्रभेद हैं, तद्भिन्न कुछ नहीं।

मायाशक्त्या भिन्नसंवेद्यगोचरा सा एव (या) ज्ञान-संकल्प - अध्यवसाय - आदि नामभिः कथिता' अर्थात् यह वही (सैव-विमर्श-शक्ति) है जो 'ज्ञान' 'संकल्प' 'अध्यवसाय' आदि नामों से कही जाती है। इस प्रकार विमर्शशक्ति एवं ज्ञान, स्मृति आदि शक्तियों में अभेद है, भिन्नता नहीं। **प्रश्न-** हम घट-पट आदि को आत्मभिन्न[3] समझते हैं और घट-पट को परस्पर भिन्न समझा जाता है। यह क्योंकर ?

उत्तर - मायाशक्ति के द्वारा

प्रश्न - माया क्या है

उत्तर - माया है 'अनुपपन्न अवभासन' = वह उन्मेष जिसकी उपपत्ति (सिद्धि) न हो सके। अभिप्राय यह है कि परेश रूप प्रकाश से भिन्न सभी स्फुरण-प्रतीत उन्मेषजात हैं माया

प्रश्न- किन्तु अवभाव किसे कहते हैं

उत्तर- 'भेदेन वस्तूनां स्फुरणम्[4]' अर्थात् आत्मभिन्नरूप वस्तुओं का स्फुरण (प्रकाश)। आत्मभिन्न उन्मेषजात है अवभास अर्थात् आत्मभिन्न जो स्फुरित हो रहा हो वह

---

१. **'यदि विश्वमहमिति परामर्शमयमेव कुत्रैषां ज्ञानस्मृत्यादीनामुपयोगः, यदि च आत्मनो ग्राहकरूपस्य ज्ञानाध्यवसायस्मरणसंकल्पादिव्यवहारः तत्कस्य विमर्शशक्त्या उपयोगः,- परमेश्वरस्य इति चेत् तर्हि आत्मैव परमेश्वर इत्युक्तिः विरुद्धा आपतेत् इति अभिप्रायः अस्या आशङ्कायाः।** (टिप्पणीसंख्या- ३९७)

२. 'सैव- विमर्शशक्तिः' (टिप्पणीसंख्या ३९८)

३. 'विमर्श' से 'अहं' परामर्श होता है- आत्मपरामर्श होता है किन्तु घट आदि आत्मत्वेन ज्ञेय नहीं होते। घट, पट आदि परस्पर भिन्न होते हुये भी आत्मत्वेन प्रतीत नहीं होते।

४. **'अवभासनम्- भेदेन वस्तूनां स्फुरणम्'** (भास्करी, पृष्ठ २८१)

अवभास है।

प्रश्न- मायाशक्ति को क्या समझा जाये ?

उत्तर- परेशात्मभिन्नतया अर्थजात के प्रकाशन में- अवभास के उद्‌भावन में जो विभु 'चित्' का स्वातन्त्र्य अर्थात् सामर्थ्य है वही है मायाशक्ति।

प्रश्न- मायाशक्तिः का कथिता ?

उत्तर- मायाशक्त्या सा एव कथिता = सा विमर्शशक्तिरेव कथिता (या सर्वशक्तिसु प्रधानतमा मन्यते तज्ज्ञैः।)

प्रश्न- कीदृशी पुनः सा (विमर्शशक्तिः) ?

उत्तर- भिन्नसंवेद्यगोचरा = (मायाशक्त्या) भिन्नसंवेद्यगोचरा। मायाशक्ति के द्वारा (१) प्रमाता से भिन्न[1] तथा विविध— परस्पर अन्योन्यभूत[2] (घटपटादि) ज्ञेय वस्तुओं से भिन्न 'इन्द्रियों' (करणवर्ग) से[3] जो संवेद्य (ज्ञेय) है वही जिसका गोचर (विषय = आकाङ्क्षाशामक विषय = विश्रान्तपद) है तादृशभूता वही (सैव) प्रत्यवमर्शरूपा (विमर्शशक्ति) है।

विमर्श को ही चिति, परावाक्[4] कहते हैं। ज्ञान, संकल्प, अध्यवसा, संशय, स्मृति सभी विमर्श के ही रूप हैं।

ज्ञान (प्रत्यक्ष) का लक्षण- साफ (स्फुट[5], स्पष्ट) वस्तु को ग्रहण करना जिसका स्वभाव होता है एतादृश 'इन्द्रिय' एवं स्पष्ट बाह्य 'विषय'[6] (यथा प्रकाश में साफ़-साफ़ दिखने वाले घट-पट आदि विषय) से सङ्कुचित (नियन्त्रित) 'संविद्' तत्त्व ('संविद्' शक्ति, परेशशक्ति आत्मशक्ति) है 'ज्ञान'।

सङ्कल्प- मन एवं अस्पष्ट विषय (के सन्निकर्ष) से नियन्त्रित संवित्तत्त्व है सङ्कल्प।

---

१. 'इन्द्रियाँ' प्रमाता से भिन्न हैं (प्रमातुः भिन्नेन 'करणवर्गेण')। इन्द्रियाँ- चक्षु आदि-प्रमाता (द्रष्टा) से भिन्न हैं।

२. **अन्योन्यतो वेद्यात् च भिन्नेन करणवर्गेण।** पट, घट से अन्य है और घट,पट से अन्य है। इस प्रकार घट-पट आदि 'अन्यतोन्य' हैं तथा 'वेद्य' (ज्ञेय) हैं- प्रमेय हैं। एतादृश वेद्य से भिन्न है 'करणवर्ग'।

३. **प्रमातुः वेद्याच्च भिन्नेन करणवर्गेण**

४. **'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक्स्वरसोदिता।'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१३)

५. (i) **'सन्निकर्षचतुष्टयवशेन स्फुटतां गतेन'** (भास्करी, पृष्ठ २८२)
(ii) देखिये 'उद्योतकार का न्यायवार्तिकः एक अध्ययन', पृष्ठ ६५
(iii) तात्पर्यटीका- १/४/४, पृष्ठ ११९

६. बाह्य विषय घटपटादि हैं, आन्तर विषय ज्ञान, बुद्धि, इच्छा आदि हैं

अध्यवसाय- निश्चय। अध्यवसाय भी एक प्रकार का नियन्त्रित संवित्तत्त्व है। यहाँ। नियन्त्रण (सङ्कोच) होता है बुद्धि एवं उस विषय के द्वारा जिसमें समस्त तत्त्व समाहित हों (जिसके पश्चात् विषयतासम्बन्धी सभी तत्त्व समाप्त हो जाते हैं- सर्वांशभावेन- अशेषत्वेन समझ लिये जाते हैं)

पुनश्च विषय अनेक हैं तथा परस्पर भिन्न हैं। इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों तथा आन्तर इन्द्रियाँ (जैसे मन, बुद्धि) भी अनेक हैं- भिन्न हैं। किन्तु ये सभी (बाह्य विषय, बाह्य इन्द्रियाँ एवं आन्तर इन्द्रियाँ) पदार्थ एक प्रकाश (संवित्तत्त्व) का ही आभास (रूप) होने के कारण भिन्न नहीं माने जा सकते। भेदप्रतीति का कारण यह है कि इनकी विश्रान्ति भेद में ही होती है (**यतो भेदे विश्रान्तिः**[1])। मायाशक्ति के कारण ये भिन्नरूप में प्रतीत होते हैं। कथन का अभिप्राय यह है कि वे पदार्थ भिन्न हैं तभी तो भेद में विश्रान्ति होती है। क्योंकि भेद की विश्रान्ति कभी अभेद में नहीं होती, यथा सदाशिव स्थिति में अभेद रहता है, वहाँ भेद में विश्रान्ति नहीं होती। वहाँ तो **अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामय**[2] स्थिति रहती है। ज्ञान (प्रत्यक्ष), सङ्कल्प आदि माना कि आन्तर पदार्थ हैं तथापि वे भिन्नत्वेन प्रतीत होते हैं और अभेदभूमिक सदाशिव आदि से भिन्न हैं। तथापि ये ज्ञान सङ्कल्प आदि उस अनुसंधातृरूप संवित्तत्त्व से सर्वथा अभिन्न हैं जो अपने अभेदस्वरूप से कभी च्युत नहीं होता, ऐसा कहा गया है तथा यह भी (कहा गया है) कि संशय आदि ज्ञान तथा (आत्मभिन्नरूप में प्रतीयमान) नीलपीत आदि में होने वाला भेद भी मायाकृत है। इस प्रकार अभेदसिद्धान्त (कि संविद् से भिन्नता किसी भी पदार्थ की नहीं है) का खण्डन नहीं होता।

(२०)

***प्रसङ्ग*-** कारिकासंख्या- १/५/१३ में कहा गया था 'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा' जिसका अभिप्राय यह है कि 'प्रत्यक्ष प्रत्यवमर्शात्मक (अनुसंधानात्मक) होता है'। **प्रश्न-** यह कथन संकल्प, स्मरण आदि सविकल्प ज्ञानों के विषय में ही चरितार्थ होता है, निर्विकल्पक ज्ञान के विषय में उक्त कथन की यथार्थता सिद्ध नहीं होती क्योंकि प्रत्यवमर्श शब्दसापेक्ष होता है और शब्दसङ्केत संस्कारसापेक्ष, संस्कार अनुभवपूर्वक होता है। निर्विकल्पकज्ञान अनुभवपूर्वक नहीं होता है।

उक्त प्रश्न को ध्यान में रख कर उस प्रश्न के **उत्तर** रूप में कारिकाकार प्रकृत कारिका (संख्या- १/५/१९) की रचना करते हैं-

---

१. **'भेदे विश्रान्तिः भवति न त्वीश्वरसदाशिवादिवत्'** (भास्करी, पृष्ठ २८२)

२. देखें 'प्रत्यभिज्ञाहृदय- ३'

ननु प्रत्यवमर्शात्मकं चितिशक्तेः संकल्पस्मरणादिषु सविकल्पात्मिकासु भवतु। या तु निर्विकल्परूपा साक्षात्करणलक्षणा अनुभवशक्तिः, तत्र कथम्। प्रत्यवमर्शो हि अभिलापभेदयोजनामयः, अभिलापविशेषयोजना च संकेतस्मरणम् अपेक्षते। तच्च संस्कारप्रबोधम्। सोऽपि तादृशदृशम्, इति एवं प्रथमसमये कथम् अभिलापयोगः ?, इति परस्य व्यामोहं अपोहयितुमाह

साक्षात्कारक्षणेऽप्यस्ति विमर्शः कथमन्यथा।
धावनाद्युपपद्येत प्रतिसंधानवर्जितम्।।११।।

अर्थ - **प्रश्न** - 'चितिशक्ति प्रत्यवमर्शरूप होती है' यह तथ्य संकल्प-स्मरण आदि सविकल्पक (ज्ञानों) के विषय में होती रहे (होने-मानने में कोई आपत्ति नहीं) किन्तु साक्षात् (अव्यवहित) निर्विकल्पकरूप अनुभवज्ञान के विषय में यह कैसे हो सकता है ? (निर्विकल्पक प्रत्यवमर्शरूप कैसे हो सकता है ?)। प्रत्यवमर्श है भिन्नार्थक शब्दों की योजना और विशेषशब्दयोजना का आधार सङ्केतस्मरण होता है और सङ्केत स्मरण होने के लिए संस्कार का उद्‌बुद्‌ध होना आवश्यक है। अत एव पहले-पहल अर्थात् निर्विकलपक ज्ञान के अवसर पर अभिलाप का योग (शब्दयोग) कैसे स्वीकार किये जाये- इस (उक्त प्रश्नरूप कथन से 'बोध्य') 'प्रतिपक्षी (पर) के भ्रम' (व्यामोह) के दूर करने के लिये (कारिकाकार) कहते हैं-

साक्षात्कार के क्षण में भी विमर्श है, अन्यथा प्रतिसंधान (योजना-पदयोजना) से रहित धावन (दौड़ना) आदि की उपपत्ति कैसे होगी ? (नहीं होगी। अतः निर्विकल्पक भी प्रत्यवमर्शात्मक है)।

लीला- **पूर्वपक्ष**- संकल्प, स्मरण आदि ज्ञान सविकल्प होते हैं। ये ज्ञान अनुभवपूर्वक होते हैं। अनुभव से संस्कार[1] और संस्कार के उद्‌बद्‌ध होने पर स्मरण होता है[2]। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रिय से होने वाला अव्यवहित ज्ञात होता है- साक्षात् ज्ञान होता है। इस ज्ञान में नाम-जाति आदि की योजना (संयोग, मिलावट) नहीं होती। यह विशुद्‌ध अर्थज्ञान है। तभी वसुवन्धु ने **'ततोऽर्थाद् विज्ञानम्'**[3] यह प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) का लक्षण किया है और दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) को कल्पनापोढ (कल्पना से

---

१. **'अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना'** (तर्कसंग्रह)
२. **'स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते'** (कारिकावली- १६१)
३. (i) न्यायवार्तिक, पृष्ठ ४०
(ii) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ १५०

रहित- निर्विकल्प) कहा है- **'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**[१]'।

जिसमें नाम-जाति की कल्पना का मिश्रण हो ऐसा होता है सविकल्पक ज्ञान अर्थात् सविकल्पकज्ञानस्थल में यथा 'घट'ज्ञानस्थल में कल्पना होती ही है। कल्पना एक प्रकार का अनुचिन्तन-अनुसन्धान-सम्बन्ध-परामर्श होता है, अत: सविकल्प को चितिशक्ति-मायाशक्ति का प्रत्यवमर्श माना ही जायेगा क्योंकि प्रत्यवमर्श सविकल्प होता है। किन्तु निर्विकल्प परामर्शरूप होता ही नहीं है क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान है प्रथम अनुभवात्मक ज्ञान जिसमें नाम का मिश्रण नहीं- कल्पना को स्थान नहीं, अत: मूल ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यवमर्श नहीं हो सकता।

सिद्धान्त- भर्तृहरि[२] के समान प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार भी कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो शब्दसम्पर्कशून्य हो, चाहे वह 'निर्विकलपक' कहा जाने वाला ज्ञान ही क्यों न हो। अत: साक्षात्कार (निर्विकल्पक ज्ञान) के अवसर पर (क्षणे) भी विमर्श है अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान भी विमर्शात्मक होता है- प्रत्यवमर्शात्मक (अनुसन्धानात्मक) होता है। अन्यथा यदि प्रथम अनुभव ('निर्विकल्पक' शब्दद्वारा कथित) को प्रतिसंधान (योगशब्दसम्पर्क) से रहित माना जायेगा तो धावन (दौड़ना-तेज चलना) आदि भी न बन सकेगा अर्थात् 'धावन' आदि को न माने जाने की आपत्ति उठ खड़ी होगी। तेज दौड़ने में 'मैं यहाँ से दौड़ना प्रारम्भ करता हूँ' 'वहाँ तक दौड़ूँगा, यह स्थान छोड़ना है[३], इत्यादि विचार जो उत्पन्न होते हैं वह भी शब्दसम्बद्ध ही हैं। शीघ्रता के कारण क्रम का बोध स्पष्टत: नहीं होता। उसी प्रकार निर्विकल्पकज्ञानस्थल में भी शब्दसम्पर्क रहता है।

---

१. (i) देखें- Vidyabhusna : A History of India Logic, p. 277
(ii) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ १५३
(iii) उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन, पृष्ठ ५८

२. **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।१२३।।
वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।१२४।।
(वाक्यपदीयम्- ब्रह्मकाण्डम्- कारिका- १२३, १२४)

३. (i) **'तथा हि- तस्मिन् देशे ज्ञानम् आचिक्रमिषा-आक्रमणम्- आक्रान्तता-ज्ञानं-प्रयोजनान्तरानुसंधानम्- तित्यक्षा-देशान्तरानुसंधिः, तत्रापि आचिक्रमिषा इत्यादिना संयोजनवियोजनरूपेण परामर्शेन विना अभिमतदेशावाप्तिः कथं भवेत्'** (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी- १/५/१९, देखें विभागसंख्या २२)
(ii) **'साक्षात्करणे ज्ञानेऽपि चितोऽर्थप्रत्यवमर्शोऽस्ति सूक्ष्मः, वाचनधावनादौ शीघ्रक्रियया तत्तद्दृश्यमानदेशाद्युपादित्साजिहासानुसंधानेन हि भवेदिति।'** (टिप्पणीसंख्या- ४०८)

(२१)

प्रसङ्ग - कारिका संख्या १९ की व्याख्या 'विमर्शिनी' प्रस्तुत की जा रही है। इस कारिका की व्याख्या यहाँ से प्रारम्भ होकर विभागसंख्या २२ में समाप्त होती है। विवेच्य है कि निर्विकल्पज्ञानस्थल में भी विमर्श-अनुसन्धान-शब्दसम्बन्ध होता है-

इह तावत् चैतन्यस्य आत्मभूतोऽङ्गुलिनिर्देशादिप्रख्योऽभिलापयोगः, अन्यथा बालस्य प्रथमं व्यवहारे दृश्यमाने व्युत्पत्तिरेव न स्यात्। निर्विकल्पविज्ञानपरंपरया हि तं शब्दं शृणोति, तमर्थं पुरः पश्यति, पुनः तद्विविक्तं भूतलं पश्यति इति, घटम् आनय-नय-इति व्यवहारात् कथम् अस्य अयम् अर्थो हृदि परिस्फुरेत्, घट इति, इदमानय इति, इदं नय इति, इदमिति योजनाप्राणो हि अयमर्थः, योजना च विकल्पव्यापारः। अथ बालस्य प्राग्जन्मानुभूतसंकेतस्मृतेः एवम्, तथापि संकेतकाले स शब्दो विषयत्वेन इदंभावेन अप्रत्यवमृश्यमानत्वात् भेदात् प्रच्युत्य निर्भासमानो विज्ञानशरीरविश्रान्तीकृतो वाचक इव भवति, तत् विज्ञानस्य स्वरूपं चेत् भाति, तत् अभिलापमयमेव इति, यथा विषयस्य सुखरूपत्वाभावेऽपि ज्ञानं सुखात्मकं भाति तथा मा भूत् अभिलापात्मा रूपादिः विषयः, तथापि विज्ञानं तदात्मकं अवभासिष्यते। अत्र तु दर्शने विषयस्यापि विमर्शमयत्वात् अभिलापमयत्वमेव वस्तुतः स्तैमित्याद्यवस्थापि यदि न परामर्शमयी तर्हि अस्यां विकल्पात्मकप्रमातृव्यापारानुल्लासात् संभवः शपथपरमार्थ एव, स्मरणं च न स्यात्, रूपविषयाध्यवसायी हि यदि विकल्प उदियात् किमन्यत्, सर्वचिन्तासंहरणेन स्तैमित्यं नाम न स्यात् इति, तत्रापि अस्ति अन्तः परामर्शः सकलेन च शब्दग्रामेण, शब्दनं हि सहन्ते वस्तूनि। तत्र च नियतशब्दयोजनं क्रियते, तथाहि- बालस्य पुरतः पिण्डे सहजो यः परामर्शः, अहम् इत्यविच्छेदेन इदम् इति विच्छेदेन वा तत्पृष्ठे एव गौर इति गौः इति वा शब्दः आरोप्यते, सोऽपि अभ्यासात् प्रमातृमयीभवति, तत्पृष्ठे च अन्यः शुक्ल इति बलीवर्द इति, एवमन्यत् इति संकेततत्त्वम्। तस्मात् अस्ति साक्षात्कारे प्रत्यवमर्शः।

अर्थ - यहाँ (इस भासमान मायीय जगत् में) निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी चैतन्य (ज्ञान) के साथ अभिलाप (शब्द) का सम्बन्ध रहता है। शब्दसंकेत वैसा ही स्पष्ट रहता

है जैसे कोई उँगली से वस्तुविशेष की ओर संकेत करे, अन्यथा यदि यहाँ शब्द का सम्पर्क न माना जाये तो सर्वप्रथम बालक को वृद्ध एवं मध्यमवृद्ध के बीच होने वाले व्यवहार को देखकर भी व्युत्पत्ति न हो अर्थात् यह ज्ञान न हो सके कि अमुक अर्थ अमुक शब्द का होता है अर्थात् वाच्यवाचकभाव का बोध न हो।

व्यवहार में तो निर्विकल्प ज्ञान माने जायेंगे। एक के बाद दूसरा ज्ञान निर्विकल्पक ही माना जायेगा। बालक उस शब्द (अखण्ड वाक्योच्चरितशब्द) को सुनता है (यथा **'घटमानय'** इस अखण्ड शब्द को सुनता है) और उस अर्थ (घटानयन) को सामने देखता है। उसके बाद (जब **'घटम् नय'** इस अखण्ड शब्द को सुनता है, तब) उस (अर्थ) से रहित (शून्य) भूतल को देखता है (अत: जब **'घटमानय' 'घटं नय'** इत्यादि अखण्ड वाक्य को सुनकर उसके अर्थ को बालक सम्मुख देखता है और वे प्रयुक्त वाक्य निर्विकल्पकज्ञान को उत्पन्न करने वाले हैं- यदि यहाँ शब्दसंकेत पूर्वत: अज्ञात है तो) **'घटम् आनय' 'घटं नय'** इस प्रकार के व्यवहार से बालक के हृदय (मन) में कैसे यह बात जम जाती है- उसे कैसे बोध होता है कि 'घट' शब्द का अर्थ यह (**'घट'** पदार्थ) है **'इदम् आनय'** का अर्थ **'यह'** है, **'इदम् नय'**[1] का अर्थ **'यह'** है। 'इस शब्द का अर्थ यह है' यहाँ 'यह' योजना (**योजना** = योग, जोड़, सम्पर्क, सम्बन्ध) पर आश्रित है और योजना है विकल्प- विकल्पव्यापार।

यदि (पूर्वपक्ष के द्वारा यह कहा जाये कि) बालक ने पूर्वजन्म में जो अनुभव किया रहा होगा उसमें जो सङ्केत (कि इस शब्द का यह अर्थ होता है) का इस समय स्मरण होना ही इस अर्थबोध का कारण है (न कि आत्मतत्त्व का सर्वस्व परावाक् है) फिर भी एतज्जन्मसम्बद्ध संकेतकाल में वह शब्द ('वाचक' शब्द) विषय के रूप में कि 'यह' (इस अर्थ का वाचक है) के रूप में अध्यवसित नहीं होता, अत: (परप्रमाता एवं शून्यप्रमाता से सर्वथा) कटकर (दूर होकर, असम्पृक्त होकर) प्रकाशित होता हुआ बुद्धिप्रमाता में विश्रान्ति प्राप्त करता हुआ वाचक बनता है (परा एवं पश्यन्ती रूप को न प्राप्त करके मध्यमारूप को प्राप्त करता हुआ वह शब्द बुद्धिप्रमाता में अटकता है और यहीं पर वह अर्थ में रूढ होकर 'वाचक' बनता है[2])। यदि वह विज्ञान के अर्थात् बुद्धिप्रमाता के स्वरूपत्वेन प्रकाशित होता है तो ('तत्'। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तब वह विज्ञान-बुद्धिप्रमाता शब्दात्मक ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि

---

१. 'इदम् (वस्तु) नय

२. यहाँ पाठभेद **'विज्ञानशरीरे विश्रान्तः सन्'** है।

'विश्रान्तः सन् वाचक इति भवति- परापश्यन्तीभावात् प्रच्युतो मध्यमाभावमागत्य बुद्धिप्रमातरि निरूढः शब्दोहि स्वार्थनियमितः सन् वाचक इति कथ्यते' (भास्करी, पृष्ठ २८९)

जन्मान्तर में बालक का शब्दसम्बन्ध स्वाभाविक है[१]।

जैसे विषय (स्वत:) सुखरूप नहीं है किन्तु (उसका) ज्ञान सुखरूप प्रतीत होता है उसी प्रकार रूप विषय आदि भले ही शब्दात्मक न हों (न माने जायें) तथापि (बालक के द्वारा समयबोधकाल में) विज्ञान (विज्ञानशरीर- बुद्धिप्रमाता) स्वात्मविश्रान्त शब्दात्मकरूप में प्रकाशित होगा (ऐसा मानना चाहिये)। इस प्रत्यभिज्ञादर्शन- अद्वैत शैवदर्शन में विषय भी विमर्शमय (मान्य होता) है अत: (वह विषय भी) वस्तुत: शब्दात्मक ही है। यदि 'स्तिमिता'[२] आदि की अवस्था[३] परामर्शरूप न होगी (न मानी जायेगी) तो विकल्परूप बुद्धिप्रमाता के द्वारा होने वाला ग्रहणरूप (बोध) व्यापार सम्पन्न न हो सकेगा[४] (एतादृशी आपत्ति होगी और (विपक्ष की मान्यता की) संभावना केवल सौगन्ध पर आश्रित होगी (तथ्य, तर्क या प्रमाण आदि पर नहीं) तथा (स्तैमित्य का) स्मरण भी न हो पायेगा (कि मैं स्तमित था[५]।

किन्तु यदि (स्तैमित्यावस्था में) ऐसा निश्चयात्मक विकल्प होगा[६] जिसका विषय रूप (शरीरादि पदार्थ) आदि रहे तो फिर वह समस्त विचारों से रहित स्तैमित्य भी न हो सकेगा, क्योंकि) वहाँ (स्तैमित्यावस्था में भी) परामर्श (सूक्ष्मविचार) अन्तर्निहित होता है जो कि सभी शब्दों से सम्बद्ध रहता है। (सभी) पदार्थ शब्दों से सम्बद्ध रहते हैं अर्थात् सभी पदार्थ शब्दों के वाच्य होते हैं और वहाँ (समय-ग्रहणकाल में- सङ्केतबोध के अवसर पर) नियत (विशेष) शब्द का योग (नियत पदार्थ के लिये) किया जाता है। विस्तार से इस प्रकार समझें- (**तथाहि**- जैसे कि उदाहरण के रूप में) सम्मुख में स्थित अर्थात्

---

१. **'तज्जन्मान्तरे बालस्याभिलाप: स्वाभाविक एव सिद्ध इति भाव:'** (भास्करी, पृष्ठ २८८)

२. (i) **स्तैमित्य = 'स्तिमित + ष्यञ्'** स्तिमिता, क्रियाशून्यत्व, जड़ता।
(ii) **'सकलविकल्पक्षोभरहित: स्तिमित:, बहिरन्त:करणप्रसाराभाव: स्तैमित्यम्'** (टिप्पणी संख्या ४१९)
(iii) **'ननु यदि सर्वमभिलापमयमेव तर्हि कथं स्तैमित्यं नाम संभवति इत्यत आह 'स्तैमित्य'' इति'** (भास्करी, पृष्ठ २८९)

३. शुद्ध प्रमाता की अवस्था, जिस काल में स्पन्द का किञ्चित् बोध होता है, जब ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-अन्त:करण सबका प्रसार रुक जाता है, केवल नित्य स्पन्द कृतकार्य रहता है-

४. **'विकल्पात्मक: विकल्परूप: य: प्रमाता–बुद्धिप्रमाता तस्य यो व्यापार: ग्रहणरूप: तस्यानुल्लासात्'** (भास्करी, पृष्ठ २८९)

५. **'स्तिमितोऽहमासमिति'** (टिप्पणीसंख्या- ४२१)

६. जब अध्यवसायरूप विकल्प का विषय रूप (शरीरादि पदार्थ) होगा तो स्तैमित्य ही कहाँ रहा- क्षोभशून्यता कहाँ रही ? स्तैमित्यावस्था भी शाब्द हो गई- शब्दात्मक–सविकल्पात्मक हुई।

अदूरवर्ती पिण्ड (शरीर) में बालक के द्वारा जो स्वाभाविक परामर्श (सविकल्परूप अनुसन्धान) होता है- या तो **'अहम्'** (मैं) इस प्रकार बिना अपने से विच्छेद (भिन्न) रूप में, अथवा **'इदम्'** इस प्रकार विच्छेद रूप में। उसके बाद ('अहंवाच्यपिण्ड में) **'गौरः'** और ('इदं-' वाच्यपिण्ड में) **'गौः'** शब्द का आरोप किया जाता है (इस प्रकार स्वकीय शरीर में **'अहं गौरः'** एवं इदंवाच्य गोशरीर में **'इदं गौः'** ऐसा परामर्श होता है), वह (शब्द भी[1]) अभ्यास के कारण प्रमातृमय हो जाता है (प्रमाता बन जाता है, शब्द एवं प्रमाता में अभेद हो जाता है)। उसके पश्चात् अन्य (शब्द) **'शुक्लः'** एवं **'बलीवर्दः'** ('आरोपित' होता) है (और तब 'अहं गौरः शुल्कः' तथा 'इदं गौः बलीवर्दः'- 'मैं गोरा हूँ अर्थात् शुक्लवर्णवाला हूँ' 'यह गो अर्थात् बैल[2] है' ऐसा परामर्श होता है)। इसी प्रकार अन्य उदाहरण (संभावित) हैं। यह संकेत का स्वभाव है। अतः निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्थल में भी विमर्श (अनुसंधान-शब्दसम्बन्ध) होता है।

लीला- निर्विकल्पक ज्ञान में अभिलाप का योग है अर्थात् शब्द का सम्बन्ध है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में यह नहीं माना जाता है कि निर्विकल्पक ज्ञान शब्दयोजनाशून्य होता है। 'अभिलापयोग' है 'चैतन्य' का आत्मभूत अर्थात् चैतन्य का तत्त्व = चैतन्यशक्ति = चैतन्य। वस्तुत चैतन्य अर्थात् स्वातन्त्र्य परावाक् है। उसी परावाक् के प्रभेद हैं पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। यह तथ्य उतना ही स्पष्ट है जैसे किसी पदार्थ को बतलाने के लिये (सङ्केतार्थ) उँगली से निर्देश किया जाता है। यदि निर्विकल्पक ज्ञान शब्दसम्पर्कशून्य रहेगा तो बालक को उत्तमवृद्ध एवं मध्यमवृद्ध के बीच होने वाले व्यवहार से सर्वप्रथम होने वाला शब्दसङ्केत सम्पन्न न हो सकेगा।

निविकल्पक ज्ञान होते रहने पर भी जब तक तत्पूर्व शब्दार्थसम्बन्धज्ञान न होगा, सङ्केतग्रह न हो सकेगा। इसे इस प्रकार समझें- उत्तमवृद्ध मध्यमवृद्ध से कहता है **'घटम् आनय'**। बालक सुनता है। अभी 'घटम् आनय' उसके लिये वह ध्वनिमात्र है जिसका अर्थ वह देख रहा है- 'घट का आनयन'। यह सब निर्विकल्पक ज्ञान के ही अन्तर्गत बोध हो रहा है। पुनः उत्तमवृद्ध मध्यमवृद्ध से कहता है **'घटम् नय'**। इस ध्वनि को बालक सुनता है और विविक्त भूतल (खाली भूतल) को देखता है (घटरहित भूतल को देखता है)।

इस प्रकार के पुनः पुनः व्यवहार से बालक ने विचार किया होगा- निर्णय किया होगा कि **'घट'** शब्द का 'यह' अर्थ ('घट' अर्थ) है, **'आनय'** शब्द का 'यह' अर्थ है और 'नय' शब्द का 'यह'। यहाँ 'यह' की सिद्धि जुड़ने (योजना) से होती है और योजना

१. 'सोऽपि- स शब्दोऽपि' (भास्करी, पृष्ठ २९०)
२. 'इदं गौः बलीवर्दः' = अयं गौः बलीवर्दः

है विकल्प का व्यापार। इस प्रकार ज्ञान-चैतन्य का आत्मभूत हो गया अभिलाप[1], ज्ञान के स्वरूप में कल्पना- शब्दकल्पना होने के कारण।

पूर्वपक्ष का **प्रस्ताव**- यदि यह मान लिया जाये कि अभिलाप चैतन्य का आत्मभूत नहीं है, अपितु बालक ने पूर्वजन्म में जो सङ्केतग्रहण किया था उस (सङ्केत) की स्मृति ही यहाँ कृतकार्य होती है।

पूर्वपक्ष के प्रस्ताव की **अस्वीकृति**- पूर्वजन्म भी इसी जन्म के समान ही होगा। सङ्केतग्रह की जो स्थिति इस जन्म में है वही किसी अन्य (पूर्व) जन्म में भी होगी। पुनश्च जन्म तो अनादि है अत: पूर्वजन्म में ही सही सङ्केत काल में 'इस शब्द का यह अर्थ है'[2] इस रूप में प्रमाता के परामर्श का विषय तो वह शब्द होता नहीं[3]। इस प्रकार जब शब्द में इदन्ता का भाव न होगा तो इसका अर्थ यही हुआ कि वह (शब्द) अहंभेद से भिन्न अर्थात् अहंभावेन भासित होगा-- विज्ञान (बुद्धिप्रमाता) में विश्रान्त होता हुआ वाचक होता है अर्थात् शब्द विज्ञान का ही रूप होकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार 'निर्विकल्पक' कहा जाने वाला ज्ञान भी शब्दात्मक ठहरता है।

प्रश्न- रूप (यथा विज्ञानशरीर) आदि विषय शब्दात्मक (अभिलापात्मा) तो हो सकते नहीं। अत: विज्ञानशरीर (विज्ञानरूप बुद्धिप्रमाता) को अभिलापमय कैसे मान सकेंगे ? **उत्तर**- माला, चन्दन, वनिता सुखात्मक अर्थात् स्वयं सुखरूप नहीं हैं- सुख नहीं है। हाँ ये सुख के साधन अवश्य हैं। अर्थात् चन्दन, वनिता आदि का ज्ञान सुखरूप है उसी प्रकार प्रकृत विषय भले ही अभिलापरूप न हो तथापि उसके ज्ञान को अभिलापमय माने जाने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये[4]।

इस (स्वतन्त्रशिवाद्वैत) दर्शन (प्रत्यभिज्ञादर्शन) में विषय भी तो विमर्शमय (शक्तिरूप- स्वातन्त्र्यरूप) है, फलत: (विषय) अभिलापमय (शब्दरूप) है ही। यहाँ तक कि जिसे 'स्तैमित्यावस्था' कहते हैं जिसमें इन्द्रियों एवं अन्त:करण के व्यापारों का उपरम

---

१. **'तथा चात्मभूत एवाभिलापश्चैतन्यस्येति सिद्धम्'** (टिप्पणीसंख्या ४१३)

२. **'इदंभावेन - इदन्तया, अयं शब्दोऽस्यार्थस्य वाचकः इत्येवम्'** (भास्करी, पृष्ठ २८७)

विशेष- 'इदम्' के स्थान पर प्रसङ्गतः 'अयम्' अथवा **'इयम्'** समझ लेना चाहिए।

३. पाठभेद है- **'प्रत्यवमृश्यमानत्वात्'**। प्रकृत स्थल पर **'अप्रत्यवमृश्यमानत्वात्'** पाठ के अनुसार व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

४. **'यथा स्रक्चन्दनवनितादेर्विषयस्य सुखसाधनस्यापि सुखरूपत्वाभावेऽपि ज्ञानं सुखरूपं भाति तथा अभिलापात्मा रूपादिर्विषयो मा भूत् ज्ञानं तद्रूपमेव भासिष्यत इत्यर्थः** (टिप्पणीसंख्या ४१६)

हो जाता है[१], को भी परामर्शमयी मानना होता है, अन्यथा यहाँ बुद्धिप्रमाता के ग्रहणरूप (ज्ञानरूप) व्यापार की संभावना को भी स्वीकार न किये जाने पर 'स्तैमित्यावस्था' के अस्तित्व पर ही आँच आ जायेगी। एक अन्य विप्रतिपत्ति यह होगी कि तब स्तैमित्य दशा का स्मरण भी बुद्धिप्रमाता को न हो पायेगा कि 'मैं स्तैमित्यावस्था में था'[२]। इसलिये यह मानना ही होगा कि स्तैमित्यावस्था में भी सूक्ष्म आभ्यन्तर विमर्श रहता है। तब तो 'स्तैमित्य' नामक कोई ऐसी अवस्था नहीं माननी होगी जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन (शब्दसम्बन्ध) न हो, अतः यही स्वीकार करना होगा कि 'स्तैमित्य' पदवाच्य अवस्था में भी समस्त शब्दों के साथ सूक्ष्म आभ्यन्तर परामर्श (विचार) रहता है।

शब्दनं हि सहन्ते वस्तूनि = अर्थ (वस्तु) का यह स्वभाव है कि उनका सम्बन्ध वाचक शब्द से रहता है[३] जैसा कि अभी पहले कहा गया था 'अत्र तु दर्शने विषयस्यापि विमर्शमयत्वात्' (विमर्शिनी)। किसी वस्तु (यथा पिण्ड) में बालक का परामर्श 'अहम्' भी हो सकता है यदि वह पिण्ड उस बालक का शरीर ही हो, अन्यथा 'इदम्' परामर्श होगा यदि वह पिण्ड गाय (आदि) का शरीर हो। ध्यान रहे बालक को अभी सङ्केत (समय) का ज्ञान नहीं है- 'इस शब्द का यह अर्थ होता है' ऐसा ज्ञान नहीं है। अब पिण्डरूप विषय में शब्द संयोजना की जाती है-

(i) **अहम् गौरः**

(ii) **इदम् गौः (इदम् - वस्तु गौः इत्यर्थः)**

पुनः (i) **अहं गौरः शुक्लः**

(ii) **इदं गौः बलीवर्दः (अयं गौः बलीवर्दः)**

और अभ्यासवशात् वह शब्द भी प्रमाता के रूप को ग्रहण कर लेता है अर्थात् विज्ञानमय हो जाता है- विज्ञानशरीर में प्रवेश कर जाता है[४]।

अतः जो यह कारिका में कहा गया है **'साक्षात्कारक्षणे अप्यस्ति विमर्शः** यथार्थ

---

१. **'सकलविकल्पक्षोभरहितः स्तिमितः, बहिरन्तःकरणप्रसराभावः स्तैमित्यम्'** (टिप्पणी संख्या ४१९)

२. **'स्मरणं च स्तैमित्यादुत्थितस्य उत्तरकालीनम् 'स्तैमित्यं ममासीत्' इत्येवंरूपा स्मृतिः।** - (भास्करी, पृष्ठ २८९)

३. (i) **'शब्दनं- विमर्शनम्'** टिप्पणीसंख्या- ४२२)

(ii) **'शब्दनम्- कथनम्, वाचकतयासंयोजनम्।'** (भास्करी, पृष्ठ- २८९)

४. (i) **'प्रमातृमयः विज्ञानशरीराविष्टः।'** (भास्करी, पृष्ठ २९०)

(ii) क्योंकि शरीर के भीतर 'शब्द' का अर्थ है। विविध अर्थ तो हैं नहीं। अतः आत्मा शब्दात्मक है या शब्द आत्मरूप हुआ।

है- 'तस्मात् अस्ति साक्षात्मकारे प्रत्यवमर्शः'।

(२२)

प्रसङ्ग - अब कारिका के शेषांश की विमर्शिनी प्रस्तुत की जा रही है। इसका मुख्य विषय यह है कि यदि ज्ञान को विमर्शमय न मानेंगे तो धावन आदि की उपपत्ति न हो सकेगी। विषय का स्पष्टीकरण अर्थ एवं व्याख्या से होगा।

अपिशब्दस्य अयमाशयः- इह साक्षात्कारो वस्तुतः 'पश्यामि' इत्येवंभूतविकल्पनव्यापारपर्यन्त एव। विकल्पो हि प्रत्यक्षस्य व्यापार, इति परोऽपि मन्यते। न च व्यापारः तद्वतो भिन्नो युक्तः, तत्स्वरूपभूतो हि सः। भवतु वा क्षणमात्रस्वभावः साक्षात्कारः तत्रापि अस्ति विमर्शः, अवश्यं चैतत्- अन्यथा इति यदि स न स्यात्, तत् एकाभिसंधानेन जवात् गच्छन्, त्वरितं च वर्णान् पठन्, द्रुतं च मन्त्रपुस्तकं वाचयन्, न अभिमतमेव गच्छेत्, उच्चारयेत्, वाचयेत् वा। तथा हि- तस्मिन् देशे ज्ञानम् आचिक्रमिषा- आक्रमणम्- आक्रान्तता-ज्ञानं-प्रयोजनान्तरानुसंधानम्-तित्यक्षा- देशान्तरानुसंधिः, तत्रापि आचिक्रमिषा इत्यादिना संयोजनवियोजनरूपेण परामर्शेन विना अभिमतदेशावाप्तिः कथं भवेत्। एवं त्वरितोद्ग्रहणवाचनादौ मन्तव्यम्। तत्र विशेषतः स्थानकरणाक्रमणादियोग। अत्र च यतः पश्चाद्भाविस्थूलविकल्पकल्पना न संवेद्यते, तत एव त्वरितत्वम् इति सूक्ष्मेण प्रत्यवमर्शेन संवर्तितशब्दभावनामयेन भाव्यमेव। संवर्तिता हि शब्दभावना प्रसारणेन विवर्त्यमाना- स्थूलो विकल्पः, यथा इदमित्यस्य प्रसारणा घटः शुक्ल इत्यादिः, तस्यापि पृथुबुध्नोदराकारः शुक्लत्वजातियुक्तगुणसमवायी इत्यादिः। धावु गतिशुद्धौ इति पाठात् धाविस्त्वरितगतौ स्वशक्तिवशात् वर्तत इति।।१९।।

अर्थ - (कारिका में प्रयुक्त,) 'अपि' शब्द का यह अर्थ है- यहाँ साक्षात्कार (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान) वस्तुतः 'पश्यामि' (देखता हूँ) इस सविकल्पक व्यापार तक है (अर्थात् साक्षात्कार अर्थ उक्तरूपेण सविकल्पक व्यापार है)। विकल्प प्रत्यक्ष का व्यापार

है यह प्रतिपक्षी[1] (पर) भी मानता है। व्यापार को व्यापारवान्[2] से भिन्न मानना उचित नहीं क्योंकि वह (व्यापार) उस (व्यापारवान्) का रूप है। अथवा यदि यह माना जाये कि साक्षात्कार अर्थात् निर्विकलपक प्रत्यक्ष तो क्षण भर के लिये ही रहता है (क्षणमात्र जीवितावधि होता है) फिर भी उसमें विमर्श रहता है, उसका विमर्शमय होना अनिवार्य है, (अब कारिका के 'अन्यथा' शब्द की व्याख्या की जा रही है) 'अन्यथा इति' के सङ्केत के द्वारा। अन्यथा यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वह (विमर्श, आवश्यक) न हो तो एकानुसन्धान (दौड़ता हूँ- दौड़ूँ इस प्रकार पहले किये गये परामर्श- विचार के योग[3]) के द्वारा तेजी से जाते हुये (दौड़ते हुये), शीघ्रता से वर्णों का उच्चारण करते हुये, अथवा द्रुतगति से मन्त्र की पुस्तक को पढ़ते हुये (क्रमशः) न अभिमत स्थान तक जायेगा, (न अभिमत) उच्चारण कर पायेगा और न (न अभिमत) पढ़ पायेगा। जैसे कि (उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण इस प्रकार होगा)- (जहाँ तक धावन की बात है) उस देश (स्थान) का- (१) ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान), (२) आगे बढ़ने की इच्छा (आचिक्रमिषा) (३) आगे बढ़ना (आक्रमण) (४) आगे बढ़ने का ज्ञान (आगे बढने का ज्ञान कि आगे बढ़ रहा हूँ आदि) (५) अन्य प्रयोजन (अभिमत देश की प्राप्तिरूप प्रयोजन[4]) (६) (स्थानविशेष के) त्याग करने के इच्छा (७) स्थानान्तर का योग (इन) के ज्ञान में संयोजन एवं वियोजन के परामर्श की अनवार्यता होती है जिसके बिना अभिमत देश तक नहीं पहुँचा जा सकता अर्थात् 'धावन' सम्पन्न नहीं हो सकता (यथा आचिक्रमिषा- आक्रमण की इच्छा का विषय होगा एक स्थान को छोड़कर- उससे वियुक्त होकर दूसरे स्थान की प्राप्ति अर्थात् संयोजन। इस संयोजन एवं वियोजन का परामर्श अर्थात् सविकल्पक ज्ञान)।

(ध्यान रहे यहाँ 'धावन' एक नया कार्य है जहाँ किन्हीं पूर्वकल्पनाओं को स्थान नहीं मिलता है। केवल 'धावन' को सम्पादित करना है, उसके सम्पादन में जो कुछ हो जाये स्वभावतः। ऐसी निर्विकल्पक परिस्थिति में भी स्वभावतः परामर्श रहा करता है। इससे सिद्ध होता है कि निर्विकल्पकज्ञान-स्थल में भी परामर्श रहता है।)

यही स्थिति त्वरितवर्णोच्चारण एवं द्रुतगत्या मन्त्रपुस्तकवाचन स्थल में भी रहती है। अर्थात् यह भी परामर्श स्वाभाविकरूप में रहता है, ऐसा मानना चाहिये। कारण,

---

१. भिन्नमतावलम्बी

२. यहाँ 'तद्' एवं 'तद्वान्' में अभेद है।

३. सम्बन्ध

४. **'अभिमतदेशप्राप्तिरूपम्'** (टिप्पणीसंख्या- ४२९)

उच्चारण एवं वाचन तब सम्पन्न होता है जब उच्चारण के स्थान एवं करण[1] का परस्पर स्पर्श हो।

यहाँ पर (त्वरितोद्ग्रहण समय में) चूँकि आगे आने वाले स्थूल विकल्प की कल्पना का बोध नहीं होता अतः 'त्वरित' का अर्थ यही मानना होगा कि यहाँ सूक्ष्म परामर्श होता है जिसमें शब्दानुसन्धान प्राणरूप रहता है[2]। 'स्थूलविकल्प' का अर्थ है फिर से घुमाकर लाई गई (संवर्तित) शब्दभावना जो कि फैलाकर बढ़ा दी गई हो। उदाहरण के लिये **'इदम्'** की प्रसारणा (फैलाव, स्पष्टीकरण, वृद्धि, स्थूलरूपता) है **'घटः'** (और **'इदम् घटः** की प्रसारणा) **'शुक्लः'** इत्यादि। **'इदम् किम्' ? घटः'**) **कित्थंभूतः इदं घटः ? 'इदं घटः शुक्लः'**। यहाँ उत्तरोत्तर स्थूलता है, स्पष्टीकरण है। इसके आगे भी प्रसारण है यथा, यह घट जो कि शुक्ल है वही जिसके उदर की तलहटी विस्तृत है, शुक्लत्वजातियुक्तगुण अर्थात् शुक्ल गुण जिसमें समवेत है, इत्यादि।

व्याकरण आगम में 'धावु' धातु का पाठ 'गति' एवं 'शुद्धि' अर्थ में है किन्तु अपनी शक्ति ('धातु' शब्दगतशक्ति) के कारण शीघ्रगति[3] (तेज़ चाल) के अर्थ में प्रयुक्त होती है॥१९॥

लीला - कारिका में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है- **'साक्षात्कारक्षणे 'अपि' अस्ति विमर्शः** (साक्षात्कार होने के क्षण में 'भी' विमर्श है'। इससे यह अर्थ निकलता है कि 'सविकल्पकक्षण में अर्थात् सविकल्पकप्रत्यक्षक्षण में तो विमर्श रहता ही है, वह विमर्श साक्षात्कारक्षण में भी रहता है। यहाँ 'साक्षात्कार' शब्द का अर्थ है विचार, शब्दसम्बद्धविचार, आत्मबोध'। कथन का अभिप्राय यह है कि शैव दर्शन के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष में जिस प्रकार शब्द का (शब्दादि का) संसर्ग रहता है वैसे ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी रहता है। वस्तुतः कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो शब्दसंसर्ग से रहित हो।

विकल्पो हि प्रत्यक्षस्य व्यापार, इति परोऽपि मन्यते = विकल्प प्रत्यक्ष का व्यापार है यह (बात) हम शैवों का विपक्षी (परः) भी मानता है। यहाँ 'पर' का अर्थ

---

१. **'स्थानं-मूर्धताल्वादि, करणं- जिह्वाग्रादि, तयोः परस्परं संस्पर्शे सति वर्णनिष्पतिः'** (टिप्पणीसंख्या- ४२९)

२. **'अन्यथा एकवर्णोच्चारणान्तरं द्वितीयवर्णज्ञानाद्यसंभवे द्वितीयवर्णपठनमयुक्तमेव स्यादिति भावः'** (भास्करी, पृष्ठ- २९३)

३. **'धावु इति संकेतेनैव त्वरितगतौ वर्तते, आर्यसंकेतो हि शक्तिः'** (टिप्पणी संख्या- ४३१)

टिप्पणी में बौद्ध (सौगत) आदि माना गया है[१] जबकि भास्करकण्ठ ने 'तार्किक' (नैयायिक) माना है तथा 'बौद्ध' अर्थ मानने की सयुक्ति आलोचना की है[२] जो कि युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। बौद्ध निर्विकल्पक (जिसमें कल्पना न हो जो शब्द, जाति आदि के सम्पर्क से शून्य हो) ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानते हैं, सविकल्पक ज्ञान को नहीं क्योंकि उसमें कल्पना का संसर्ग रहता है।

'व्यापार' एवं 'व्यापारवान्' में, 'शक्ति' एवं 'शक्तिमान्' में शैवदर्शन अभेद मानता है अत: 'विकल्प प्रत्यक्ष का व्यापार है' (विकल्पो हि प्रत्यक्षस्य व्यापार:) यहाँ प्रत्यक्ष एवं विकल्प का ऐक्य सिद्ध होता है। निर्विकल्पक को क्षणमात्रजीविताविधि माना जाता है किन्तु तत्क्षण में भी उसमें विमर्श मान्य होगा। वस्तुत: शिव एवं शक्ति में अभिन्नता है। शक्ति एवं वाक् में अभिन्नता है। ज्ञान भी एक शक्ति ही है। फलत: ज्ञान एवं वाक् में अभिन्नता है। इस प्रकार ज्ञान एवं विमर्श का अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

कारिका में **'अन्यथा'** कहकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि व्यतिरेकमुखेन की जाती है। क्योंकि यदि निर्विकल्पक कहे जाने वाले ज्ञानस्थल में विमर्श न माना जायेगा तो निर्विकल्पकज्ञान के जो स्थल प्रतिपक्षी को भी मान्य हैं उनकी सिद्धि ही न हो सकेगी, यथा 'धावन' (द्रुतगमन) की सिद्धि न हो सकेगी। 'धावन' एक अकस्मात् नया कर्म है। इस सम्पाद्य 'धावन' का संस्कार नहीं है और न सम्बद्ध विषयों का ही, यह मानना होगा तथापि दौड़कर जहाँ पहुँचना है या जहाँ चलना है उसका ज्ञान भी अनिवार्य है क्योंकि बिना चिन्तन के कोई कर्म का सम्पादन शीघ्रता में (झट से) भी नहीं करता। आगे बढ़ने की इच्छा (आचिक्रमिषा), आगे बढ़ना (आक्रमण), 'आगे बढ़ आये' इस तथ्य का ज्ञान, दूसरे प्रयोजन कि 'उचित स्थान पर हैं' का अनुसन्धान, उस स्थान को छोड़ने की इच्छा (क्योंकि आगे बढ़ना है), दूसरे स्थान पर पहुँचना, उससे आगे बढ़ने की इच्छा इत्यादि इन सबका यथा सम्भव मिलाना (संयोजन) एवं हटाना (वियोजन) अपरिहार्य हो जाता है 'धावन' के लिये। संयोजनवियोजन परामर्श के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता अत: जिसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं वस्तुत: वह भी सविकल्पक ही होता है। शब्दार्थसम्बन्धशून्य अर्थ में कोई ज्ञान निर्विकल्पक नहीं हो सकता। इसी प्रकार त्वरित वर्णपाठ एवं द्रुतगत्या मन्त्रपुस्तक के वाचन के विषय में भी समझना चाहिये कि वहाँ भी विमर्श होता है।

वाचनादिस्थल में सूक्ष्म शब्दभावना माननी होगी जो कि बाद में- तथाकथित

---

१. **'पर: सौगतादि:'** (टिप्पणी, संख्या- ४२६)

२. **'परोऽपि- तार्किकोऽपि न तु बौद्ध:, तन्मते विकल्पस्याप्रत्यक्षरूपत्वात्।'** (भास्करी, पृष्ठ २९०)

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद स्थूलरूप में प्रसरित होती है। किन्तु सूक्ष्म हो या स्थूल शब्दभावना तो शब्दभावना ही है। अत: शब्दसम्पर्क प्रत्येक ज्ञान में रहता है, यह सिद्ध होता है।

कहा जाता है कि तथाकथित निर्विकल्पकज्ञानस्थल में **'इदम् किञ्चित्'** एतादृश भासना होती है जिसका प्रसार (फैलाव, स्थूलत्व) **'इदम् घट:'**, पुन: प्रसारणा **'इदं घट: शुक्ल:'** पुनश्च प्रसारणा- **'इदं पृथुबुध्नोकार: शुक्लत्वजातियुक्तगुणसमवायी'** इस रूप में हो सकता है। भेद सूक्ष्म स्थूल का है किन्तु पदार्थ का नहीं- विषय का नहीं। प्रत्येक स्थिति में विमर्श रहता है

'धावन' शब्द में धातु है **'धावु'**। 'धावु' धातु के (१) गति एवं (२) शुद्धि ये दोनों अर्थ माना कि धातुपाठ के अनुसार (व्याकरणशास्त्रानुसार) होते हैं तथापि सङ्केत-आर्यसङ्केत (शक्ति) के द्वारा इस धातु का अर्थ 'त्वरितगति' (धावन) होता है[१]।

उक्त कथन का सारांश यही है कि साक्षात्कार- तथाकथित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी विमर्श रहता है।

(२३)

प्रसङ्ग - निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्थल में सूक्ष्म विमर्श (अभिलापसंसर्ग) भले ही माना जाये और तदनुसार ज्ञान एवं शब्द के अथवा यह कहा जाये कि शब्द एवं अर्थ के ऐक्य को मान लें किन्तु जहाँ 'घटोऽयम्' एतादृश 'घट' अर्थ एवं 'घट' शब्द अलग अलग स्पष्टत: आभासित होते हैं ठीक उसी तरह जैसे एक 'नील' पदार्थ अपर 'पीत' पदार्थ से बिल्कुल अलग भासता है- वहाँ दोनों में ऐक्य कैसे माना जा सकेगा ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये प्रकृत कारिका का अवतार होता है-

भवतु एवं सूक्ष्मो विमर्श: प्रकाशशरीरावेशी, यत्र तु स्थूलत्वेन विकल्परूपता स्फुटा, तत्र शब्दो नीलादिवत् एव पृथक् प्रतिभासते-नीलम् इदम् इति, स कथं प्रकाशस्वरूपात् अपृथग्भूत: स्यात्, शब्दात्मा च विमर्श:, स च अत्र मायात्मके भेदपदेऽपि प्रकाशापृथग्भूतो भवद्भि: इष्ट:, तत् एतत् कथं प्रतिपत्तव्यम् ?, इत्याशङ्क्याह

घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी।
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया।।२०।।

---

१. **'धावु इति संकेतेनैव त्वरितगतौ वर्तते, आर्यसङ्केतो हि शक्ति:'(आर्यजनों के द्वारा इसका रूढार्थ 'त्वरितगति मान्य है)।** (टिप्पणीसंख्या- ४३१)

केन एतत् उक्तम्, - घट इति यः स्थूलः शब्द स प्रकाशजीवितस्वभावो विमर्श इति। सोऽपि हि स्थूलः शब्दोऽर्थवत् पृथम्भूत एव भाति। तौ नामरूपलक्षणौ शब्दार्थौ एकरूपतया 'सोऽयम्' इत्येवंरूपत्वेन परामृशन्ती अध्यवसायशक्तिः या, सा परमेश्वरशक्तिः विमर्शरूपा आत्मवत् एव अहमित्यनवच्छिन्नत्वेन भाति, न तु कदाचित् इदन्तया- विच्छिन्नत्वेन भाति, विच्छिन्नत्वेन अवभासे परप्रतिष्ठत्वात् पुनर्विमर्शान्तरेण भाव्यम्, तत्रापि एवम् इति अनवस्था, अतो नीलस्य प्रकाशनमेव न स्यात्- प्रतिष्ठालाभाभावात् तस्मात् 'सर्व एव विमर्शः प्रकाशात् अविच्छिन्न एव' इति। अध्यवसा इति, 'आतश्चोपसर्गे' (पा.व्या. ३-३-१०६) इत्यङन्तः स्त्रियाम्।।२०।।

अर्थ - इस प्रकार (विभागसंख्या २०-२२ में किये गये विवेचन के अनुसार) सूक्ष्म विमर्श (शुद्ध अहंमात्रस्वरूप) को प्रकाश में अनिवार्यतः वर्तमान मान लिया जाये (क्योंकि बिना विमर्श के प्रकाश के स्वरूप का निष्पादन ही न हो सकेगा, किन्तु) जहाँ स्थूलता (अध्यवसाय) के कारण विकल्परूप स्पष्ट है वहाँ शब्द (विकल्प) 'नील' आदि (अर्थ) के समान ही पृथक् (अलग) भासित होता है (अर्थात् जैसे)- यह 'नील' है, वह (**सः = शब्दः**) प्रकाश से अभिन्न (**अपृथक्**) कैसे हो सकेगा (कैसे माना जा सकेगा। प्रत्यभिज्ञादर्शन में) विमर्श तो शब्दरूप है (माना जाता है) ओर इस मायारूप 'भेद की स्थिति' में भी आप लोगों (अद्वयशैवमतावलम्बी) को उसे (शब्द को) प्रकाश से अपृथक् (अभिन्न मानना) इष्ट है (प्रिय है, सिद्धान्तसम्मत है) तो यह कैसे स्वीकार्य है ? ऐसी आशङ्का करके (प्रश्न के उत्तर रूप में कारिकाकार) कहते हैं-

'घटोऽयम्' (यह घट है) इस प्रकार यह (जो) अध्यवसाय (सविकल्पक ज्ञान है वह) वस्तुतः नाम एवं रूप से भिन्न परेश (परमशिव) की शक्ति है'। (यह परेश शक्ति) आत्मा (के रूप में अर्थात् अहंरूप में- एकरूपत्वेन- शिवाद्वयरूपत्वेन) ही भासित होती है **'इदं रूप'** में नहीं।।२०।।

किसने कहा कि यह जो 'स्थूल' शब्द (वैखरीगत) 'घट' है वह प्रकाश का प्राणभूत (आश्रय) है। (अरे) वह स्थूल शब्द ('घट' भी) अर्थ ('नील' आदि अर्थ) के समान पृथक् होता हुआ ही भासित होता है)। (उक्तरूपेण प्रतीत होने पर भी, प्रत्यभिज्ञादर्शन का सिद्धान्त जो कि सर्वथा तर्कसम्मत है, यह है कि) नामलक्षण शब्द (यथा 'घट' शब्द) एवं रूपलक्षण अर्थ (यथा 'घट' अर्थ) 'वह यह है' इस प्रकार एक रूपता से

विमर्श करने वाली[1] जो अध्वसायशक्ति है वह परेश की विमर्श शक्ति है, वह निरन्तर आत्मा के समान 'अहम्' इस रूप में प्रकाशित होती है, कभी भी 'इदम्' रूप में- भिन्न रूप में (अर्थात् अन्तरत्वेन- अनैक्यत्वेन) नहीं प्रकाशित होती है, क्योंकि भिन्न (अलग, खण्डित) रूप में प्रकाशित होती माने जाने पर भिन्न (पर, अन्य) के द्वारा प्रतिष्ठा होने के कारण (अपने अस्तित्व के लिये यत: स्वेतर पर निर्भर होना मानना पड़ता है इसलिये) फिर दूसरा विमर्श होना चाहिए (जिससे प्रतिष्ठा की आशा की जा सके, किन्तु) वहाँ भी इसी प्रकार (विमर्शान्तर की अपेक्षा होगी) अत: अनवस्था (की प्रसक्ति हो जाती है), 'नील' का (तथैव 'घट' आदि का) प्रकाशन ही न हो पायेगा- प्रतिष्ठा (स्थिरता) के न प्राप्त होने के कारण। इसलिये 'विमर्शमात्र प्रकाश से अभिन्न ही होते हैं'। (कारिका में समाविष्ट) 'अध्यवसा' (शब्द की निष्पत्ति के विषय में स्पष्टीकरण इस प्रकार है-) यहाँ 'आतश्चोपसर्गे) (पाणिनिव्याकरण, सूत्रसंख्या- ३/३/१०६)' से (उक्त शब्द) स्त्रीलिङ्ग में अङन्त ('अङ्' से अन्त होने वाला) है॥२०॥

लीला- जैसे स्थूल 'घट' 'पट' आदि अर्थ परस्पर भिन्न हैं वैसे 'घट' शब्द कण्ठाद्यवयवोच्चरित श्रोत्रग्राह्य एवं 'घट' अर्थ मृत्तिकादिसमवायिकारण एवं सूत्रचक्रकुम्भकारादिनिमित्तकारण से उत्पन्न चक्षुर्ग्राह्य होने से परस्पर भिन्न हैं एवं भिन्न प्रतीत भी होते हैं। तथापि परमार्थत: वे भिन्न नहीं हैं अपितु (वे शब्द एवं अर्थ दोनों) एक हैं। जैसे शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद रहता है वैसे ही शब्द एवं अर्थ दोनों अभिन्न हैं एक हैं। 'अध्यवसाय' शक्ति (निश्चयशक्ति, प्रतिष्ठाशक्ति) परमेश्वर की विमर्शरूपा शक्ति है। यह शक्ति अखण्डित रूप में- 'अहम्' परामर्शरूप में प्रकाशित होती है यह 'इदन्ता'-रूप में कभी प्रकाशित ही नहीं होती।

प्रत्येक प्रकाशन 'अहम्' पर निर्भर करता है। किसी अर्थ की प्रतिष्ठा- उसका प्रकाश अपेक्षा करता है आत्मा का और वह अर्थ एवं वह प्रकाश आत्मा से ('अहम्' से) भिन्न नहीं हो सकता। भिन्न होने पर आत्मसम्बन्ध न बनने के कारण न अर्थ की सिद्धि होगी और न प्रकाश की सम्पन्नता। सबका आधार- सबका प्राण आत्मा है- शिव है। यह विश्व शिव का ही रूप है जो उसकी शक्ति के द्वारा चित्रित होता है। विश्व भी शिवरूप है, शक्ति भी शिव से अभिन्न है। सब कुछ शिवरूप ही है। इसी को गीता के शब्दों में इस प्रकार कहा गया माना जा सकता है-

'वासुदेवः सर्वमिति............' (श्रीमद्भगवद्गीता- ७/१९)।

'अहम्' से अतिरिक्त को प्रतिष्ठापक मानने पर वस्तुत: प्रतिष्ठा न हो पाने के कारण विमर्शान्तर की अपेक्षा होगी। 'अहम्' में सबकी परिसमाप्ति हो जाती है,

१. प्रकाशित होने वाली

प्रतिष्ठालाभ हो जाता है। 'अध्यवसा' यह परमेश्वर की शक्ति है, इत्यादि रूप में इसका परिचय दिया ही जा चुका है।

अध्यवसा = बुद्धिव्यापारविशेष, इसे ही 'अध्यवसाय' एवं 'अध्यवसान' भी कह सकते हैं[१]।

'अध्यवसा' (शब्द की **निष्पत्ति**) = 'अधि + अव + √षो[२]'

यहाँ **'धात्वादेः षः सः'** (अष्टाध्यायी- ६/१/६४) सूत्र से 'ष्' के स्थान पर 'स्' होकर 'अधि+अव+सो' = 'अध्यवसो' रूप होता है। अब **'आदेच उपदेशेऽशिति**[३]' (अष्टाध्यायी- ६/१/४५) से 'अध्यवसा' रूप बनता है। अब सूत्र **'आतश्चोपसर्गे'** (अष्टाध्यायी- ३/३/१०६) की प्रवृत्ति होती है[४]। तदनुसार 'अध्यवसा' से **'अङ्'** की प्राप्ति होकर 'अध्यवसा+अङ्' = **'अध्यवसा'** रूप हो जाता है[५]।

(२४)

प्रसङ्ग - **शङ्का**- पिछले विभाग में बतलाया गया है कि सब ज्ञानों की विश्रान्ति 'अहम्' में ही होती है और यह जगत् शिव का ही रूप है। सब कुछ परेश ही है। वस्तुतः कर्ता, कर्म, ज्ञान, शक्ति सबमें ऐक्य है। ऐसा मानने पर ज्ञान के क्षेत्र में मात्र कर्ता (अहम्) का ही महत्त्व सिद्ध होता है। तब तो 'इदन्ता' के रूप में- वेद्य के रूप में कुछ

---

१. (i) **'अध्यवसा - बुद्धिव्यापाररूपमध्वसानम्'** (भास्करी, पृष्ठ- २९४)
(ii) अध्यवसाय = 'अधि+अव+√षो+घञ्' = बुद्धिव्यापार, सङ्कल्प।
(iii) अध्यवसान = 'अधि+अव+√षो+ल्युट्' = निश्चय

२. **'षोऽन्तकर्मणि'** (देखें सूत्र **'विभाषाघ्राधेट्शाच्छासः'** अष्टाध्यायी- २/४/७८ की वरदराजकृतवृत्ति (लघुसिद्धान्तकौमुदी की)

३. **'एजन्तो यो धातुरुपदेशे तस्याकारादेशो भवति....'** (काशिका)

४. (i) **आकारान्तेभ्य उपसर्गे उपपदे स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति'** (काशिका)
(ii) ध्यान रहे **'आतश्चोपसर्गे** (अष्टाध्यायी- ३/१/१३६) एक अन्यसूत्र भी है। अर्थात् **'आतश्चोपसर्गे'** नाम से दो सूत्र हैं- '३/१/१३६' एवं '३/३/१०६'। यहाँ सूत्र '३/३/१०६' ही अभिप्रेत है क्योंकि **'अङ्'** का विधान इसी से होता है, इतर से नहीं।
(iii) ध्यातव्य है कि यहाँ विमर्शिनी में सूत्र संख्या **३.३.१६** लिखी है जो कि डॉ॰ पाण्डेय के अनुवाद में **३.२.१६** हो गई। वस्तुतः शुद्ध सन्दर्भ **'३/३/१०६'** है।

५. **'अध्यवसा' इति पदं व्युत्पादयति 'अध्यवसा' इति। 'अङ्' इति, भावे विहितः इत्यर्थः, स्त्रियां टाबन्तत्वात् स्त्रीलिङ्ग इत्यर्थः। अध्यवसेति उपसर्गद्वयपूर्वस्य 'षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्येदं रूपम्', 'आदे च' इति ओकारस्याकारः।'** (भास्करी, पृष्ठ २९५)

बचता ही नहीं है। किन्तु वेद्य का अनुभव तो होता है। वस्तुतः देश एवं काल के योग में 'यह इससे पर है या अपर है' ऐसा बोध होता है अर्थात् क्रम का बोध होता है। यदि ज्ञानों में क्रम को भी न माना जायेगा तो ज्ञान के एक होने की प्रसक्ति होती है और तब जो इसी (प्रत्यभिज्ञा) शास्त्र में ज्ञान, स्मृति आदि को पृथक् माना गया है उसकी सिद्धि भी संदिग्ध हो जाती है।

उक्त शङ्का की सम्भावना करके उसके **समाधान** के लिये **'केवलं भिन्नसंवेद्य....'** आदि कारिका की विमर्शिनी की रचना भूमिकासहित अभिनव करते हैं-

ननु एवं सर्वस्यैव ज्ञानकलापस्य अहमित्येव प्रतिष्ठाने वेद्यभूमिस्पर्शो नास्ति, वेद्यभुवि च देशकालयोगः न तु वेदकांशे, देशकालयोगाभावे च यत् इदं ज्ञानानां स्वांशापेक्षया ज्ञानान्तरापेक्षया च सक्रमत्वं लक्ष्यते तत् कथं स्यात्, क्रमाभावे च एकत्वमेव वस्तुतो भवेत्, ततश्च 'ज्ञानस्मृत्यादि-शक्तिभिस्तद्वान् परमेश्वरः' इति यत् उक्तं तत् कथं निर्वहेत् ? इत्याशङ्कां शमयन् पूर्वोक्तमुपसंहरति

केवलं भिन्नसंवेद्यदेशकालानुरोधतः।
ज्ञानस्मृत्यवसायादि सक्रमं प्रतिभासते।।२१।।

सत्यम् एवम् - अक्रममेव संवित्तत्त्वम्, किन्तु स्वशक्तिवशात् भिन्नत्वेन भासितानि यानि वेद्यानि तेषां मूर्तिभेदकृतो यो दूरादूरवैतत्यावैतत्यादिः देशः, क्रियाभेदकृतश्च चिरशीघ्रक्रमादिरूपः कालः, तौ अनुरुध्य–च्छायामात्रेण अवलम्ब्य, ज्ञानस्मरणाध्यवसायानां स्वांशा इव भान्ति, निरंशानामपि तद्भासमानांशकृतश्च सक्रमत्वावभासः परस्परापेक्षया स्वांशापेक्षया च, यद्यपि कालक्रम एव स्फुटो विज्ञानेषु भाति न देशक्रमः, तथापि विमूढस्य पर्वतसंवेदनं विततमिव बदरसंवेदनं च सूक्ष्ममिव भाति- इति देशक्रमोऽपि दर्शितः, तेन वेद्यगतक्रमस्वीकाराभासात् सक्रमत्वम् आभासमानमपि न अपारमार्थिकम्- आभासमानस्य परमार्थत्वात्, ततश्च युक्तमुक्तम् 'ज्ञानादयोऽस्य भगवतः शक्तय' इति।

'मायाशक्त्या विभोः'।

इति श्लोकेन स्वरूपवैचित्र्यं ज्ञानानां दर्शितम्। अनेन तु देशकालवैचित्र्यम्- इति विशेषः। इति शिवम्।।२१।।

इति पञ्चममाह्निकम्

अर्थ - (शङ्का)- इस प्रकार (विभागसंख्या २३ में निरूपित विषय के अनुसार) सभी ज्ञानों के 'अहम्' रूप में ही प्रतिष्ठित (स्थित, विश्रान्त) हो जाने पर ज्ञेय (वेद्य-अर्थ, विषय) भूमि (स्तर) का स्पर्श नहीं (हुआ या होता) है, वेद्यभूमि पर ही देश एवं काल का योग होता है (विषय का बोध देशकालसापेक्ष है), न कि वेदक (ज्ञाता, कर्ता) अंश में (देशकाल योग होता है)। देश एवं काल के योग के अभाव में जो यह ज्ञानों का अपने भागों की (परस्पर होने वाली) अपेक्षा से अथवा विविध ज्ञानों (की परस्पर) अपेक्षा से सक्रमत्व[१] (क्रमसहितत्व, क्रम के सहित होना) दिखलाई देता है वह कैसे (सम्पन्न) हो सकेगा (क्योंकि) क्रम के न होने पर (ज्ञान का) एकत्व[२] हो जायेगा (होने की आपत्ति होगी)। और तब[३] (ऐसी स्थिति में) 'ज्ञान, स्मृति इत्यादि शक्तियों के द्वारा परमेश्वर तच्छक्तिसमन्वित होता है' यह जो (प्रत्यभिज्ञादर्शन में) कहा गया है उसका निर्वाह[४] कैसे हो सकेगा ?

(शङ्का का **शमन**) इस शङ्का का शमन करते हुये पूर्वोक्त[५] का उपसंहार (कारिकाकार) करते हैं-

भिन्नरूप में प्रतीत हो रहे विषयों (नीलादि अर्थों) के देश एवं काल के कारण ज्ञान, स्मृति एवं अवसाय (अध्यवसाय, निश्चय) क्रमसहित भासित होते हैं॥२१॥

वस्तुतः संवित्तत्त्व तो क्रमशून्य ही है किन्तु स्वकीय शक्ति के प्रभाव से भिन्नरूप में जो वेद्य (ज्ञेयविषय, यथा 'नील' आदि) प्रकाशित होते हैं उन (वेद्य पदार्थों) का आकारभेदकृत (स्वरूपभेदकृत) जो दूर अदूर (समीप) फैलाव (वैतत्य) अवैतत्य आदि 'देश' एवं क्रियाभेदकृत जो चिर (देर) शीघ्र (जल्दी) यह क्रम आदिरूप 'काल' है[६] उन (देश एवं काल) का अनुरोध करके (उन देश एवं काल की) छायामात्र (न कि परमार्थतः देश एवं काल) का अवलम्बन लेकर ज्ञान, स्मरण एवं अध्यवसाय के अपने अशों के

---

१. विमर्शिनी के पदों में इस प्रकार अन्वय करें- **'ज्ञानानां यत् इदं सक्रमत्वं लक्ष्यते'**

२. (i) विमर्शिनी के पदों में इस प्रकार अन्वय करें **'ज्ञानानाम् एकत्वं भवेत्'**
(ii) एक ही प्रकार का ज्ञान होगा।

३. **'ततश्च- एकत्वे च सतीत्यर्थे'** (भास्करी, पृष्ठ- २९६)

४. **'निर्वहेत्- सिद्धिं गच्छेत्'** (भास्करी, पृष्ठ- २९६)

५. **'पूर्वसूत्रोक्त एवार्थः सूत्रान्तरेणाभिव्यज्यत इति भावः'** (टिप्पणीसंख्या- ४४१)

६. **'....। तेन संवेद्यस्य स्फुटास्फुटत्वाादिरूपतया ज्ञानसंकल्पस्मरणादिभेदस्तावदन्तरङ्गः, प्रत्येकमपि तत्र नीलज्ञानं पीतज्ञानमित्यन्तरङ्गतरः, नीलेऽपि सुखं दुःखं संवेदनमित्यन्तरङ्गतमः। चिरमिदं ज्ञानं शीघ्रमिति बहिरङ्गः, पूर्वमिदमपरमिदमिति बहिरङ्गतरः, सूक्ष्ममषकज्ञानं स्थूलं हस्तिज्ञानमिति बहिरङ्गतमः- इति प्रधानभूतसंवेद्योपरागकृतः संवदेनस्य भेद इति सूत्रार्थः** (टिप्पणी, संख्या- ४४५)

समान प्रकाशित होते हैं। जो निरंश (पदार्थ) हैं उनके भासमान अंशों के द्वारा क्रमशः होने वाला आभास एवं परस्पर[1] तथा अपने अंशों की अपेक्षा करके (क्रमशः अवभास होता है), माना कि विज्ञानों में कालक्रम ही स्पष्ट आभासित होता है, देशक्रम नहीं तथापि मूढ को पर्वत का संवेदन (अनुभव, ज्ञान) फैला- पृथु एवं बेर का संवेदन सूक्ष्म मालूम पड़ता है- यह देशक्रम भी दिखला दिया गया। इसलिये वेद्य (ज्ञेय पदार्थ) में होने वाले क्रम के स्वीकार में हो रहे आभास (प्रतीति) के कारण होने वाला सक्रमत्व (वेद्यों में 'क्रम होना') जो (मात्र) आभासित होता है (प्रतीत मात्र होता है) अपारमार्थिक (असत्य, मिथ्या) नहीं होता। कारण, जो भी पदार्थ आभासित होता है वह परमार्थ होता है। और इसलिये यह ठीक कहा है कि 'ज्ञान आदि इस भगवान् की शक्तियाँ हैं'। **मायाशक्त्या विभोः.....'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/२१) इस श्लोक (कारिका) के द्वारा ज्ञानों के स्वरूप में वैचित्र्य (विविधता, भिन्नता, अन्तर) होता है यह दिखलाया गया है[2], और इस (श्लोक-कारिका) के द्वारा देश-काल के वैचित्र्य को (दिखलाया गया है) यह अन्तर है, (इस आह्निक के सम्पन्न होने पर अर्थात्) सम्पन्नता में शिव (कल्याण हो)- (समाप्ति मङ्गलकारिणी हो)।

लीला- वेद्य है ज्ञेय (ज्ञान का विषय) और वेदक है ज्ञाता (जिसे ज्ञान होता है)। कभी-कभी मैं अपने को ही जानता हूँ, यथा **'अहमस्मि', 'अहमात्मानं जानामि' 'आत्मानं जानीहि' 'आत्मज्ञः सः' अनात्मज्ञः'** इत्यादि। शैव दर्शन के अनुसार परेश-परामात्मा ही एक-अद्वय तत्त्व है। सकलपदार्थ- समस्त विश्व अशेष पदार्थ उसी का विजृम्भणमात्र है- वही शिव ही है। इस प्रकार शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है। शिव की शक्ति या शक्तिसमूह भी शिव से भिन्न नहीं। यहाँ प्रत्यभिज्ञादर्शन में **'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'** सिद्धान्त है।

यदि उक्तरूपेण सकल पदार्थों को अहंरूप मान लेंगे तो सदैव वेदक का ही ज्ञान माना जाना उचित समझा जायेगा, सभी पदार्थ-जगत् की प्रतीति 'अहंरूपेण' ही होती मानी जायेगी। समस्त ज्ञान 'अहं -ज्ञान' के अन्तर्गत होंगे। फलतः वेदक (अहम्) के अतिरिक्त 'वेद्य' का बोध या इदन्तारूप से ज्ञेय (ज्ञान अथवा अतिरिक्त पदार्थ) को स्वीकार न किया जा सकेगा।

---

१. **'न हि ज्ञानदयः एककाले एव संभवन्तीति भावः। न हि ज्ञानं युगपत् प्रादुर्भवति, अपि तु प्रमात्राद्यंशावलंबक्रमेणैव, एवं स्मृत्याद्यपि'** (भास्करी, पष्ठ- २९८)

२. **'यस्तु ज्ञानस्मृतिसंकल्पाद्यवान्तरजातिकारी भेदः स मायाशक्त्या विभोः' इत्यनेन दर्शितः, अनेन तु ज्ञानाद्येकजातीयत्वेपि यो भेदो नीलज्ञानं पीतज्ञानं नीलस्मरणं पीतस्मरणमित्यादिः यश्च देशकालक्रमोपरागाद्विततावितत्वशीघ्रचिरादिश्च संवेदनगतः स निरूपितः।'** (टिप्पणी, संख्या- ४४६)

किन्तु लोक में हमें वेद्य पदार्थ का अथवा यों कहें कि वेद्य ज्ञान का भी अनुभव होता है, वह भी आत्मभिन्नरूप में। अर्थात् वेदक से भिन्न वेद्यज्ञान की भी प्रतीति होती है। एक बात ध्यान में रखनी है कि वेद्य ज्ञान जब होता है तब देश-काल का भी योग (सम्पर्क) रहता है। 'कल घट का ज्ञान मुझे हुआ था' 'आज मुझे पट का ज्ञान हो रहा है' यहाँ काल का योग है, माना कि दोनों अलग-अलग हैं। कभी-कभी 'घटोऽयं घटोऽयम्' इस प्रकार एक ज्ञान में भी पूर्णक्षणविशिष्टघटज्ञान एवं तदुत्तरवर्तिक्षणविशिष्टज्ञान होता है। यहाँ एक घटज्ञान (धारावाहिक घटज्ञान) के अंशों को लेकर कालयोग को स्पष्टतः समझा जा सकता है। कालक्रम के समान किन्तु कम स्पष्टता के साथ देशक्रम की भी सिद्धि होती है।

(i) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में ही स्थान-स्थान पर परेश की ज्ञान, स्मृति आदि शक्तियों का कथन एवं निरूपण किया गया मिलता है[१]। इस प्रकार ज्ञान, स्मृति आदि वेद्यरूप में कही गई हैं, ऐसा अनुभव भी होता है। यदि सब कुछ अहंरूप माना जायेगा तो ज्ञान या ज्ञानों में क्रम न हो सकेगा। तब ज्ञान का एक ही रूप होगा। वेद्यभूमि का स्पर्श होता है जिसका विवेचन कारिकासंख्या- १/५/२१ एवं उसकी विमर्शिनी में किया जा रहा है।
(ii) **'सत्यम् एवम् - अक्रममेव संवित्तत्त्वम्'**। वस्तुतः परमार्थ तो यही है कि संवित् में क्रम नहीं होता। यदि वस्तुयें या ज्ञान 'इदम्' रूप में आभासित होते हैं तो यह वस्तुओं का धर्म है कि वे स्थितिविशेष में विशेषरूप में आभासित होती हैं। परेश की मायाशक्ति के द्वारा यह सब होना संभव है। मूर्त पदार्थों के कारण यह स्थान समीप (अदूर) है, वह दूर है, इस प्रकार देशक्रम की तथा क्रिया के कारण चिर शीघ्र आदि क्रमरूप काल की सिद्धि होती है। अतः मायाशक्ति के कारण अथवा यह भी कह सकते हैं कि पदार्थों के अपने स्वभाव के कारण देशक्रम एवं कालक्रम का भी बोध होता है। क्रम की मान्यता अनेकत्व की मान्यता पर निर्भर करती है। एकमात्र पदार्थ के स्वीकार करने पर क्रम को मान्य नहीं ठहराया जा सकता। अतः चूँकि क्रम (देशक्रम एवं कालक्रम) का अनुभव होता है फलतः ईश की अनेक शक्तियों को मानना आवश्यक हो जाता है। अनुभव का अपलाप भी नहीं कर सकते। तथापि ऐसी मान्यता पारमार्थिक नहीं है। परमार्थ तो एकत्व

---

१. **'ज्ञानस्मृत्यादिशक्तिभिस्तद्वान् परमेश्वरः'** =
(i) **'ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः'** (देखिये- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१८, विभागसंख्या १९)
(ii) **'ज्ञानस्मृत्यादिका अस्य शक्तय इति'**, (विमर्शिनीभूमिका- १/५/१८, विभाग-संख्या- १९)
(iii) **'ज्ञानम् इति, संकल्प इति, अध्यवसाय इति च उच्यते, आदिग्रहणात् संशयः स्मृतिः इत्यादि'** (विमर्शिनी- १/५/१८, विभागसंख्या- १९ में)

ही है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है[१]।

(iii) कारिकागत **'अनुरोधतः'** शब्द का अर्थ- यहाँ 'अनुरोध' का अर्थ 'छाया' लेना चाहिये (परमार्थरूप नहीं) और 'तः' ('तसिल्' प्रत्यय) यहाँ 'ल्यप्' का लोप समझना चाहिए- यह समझना चाहिये कि यहाँ 'ल्यप्' अर्थ है। फलत; 'तः' का अर्थ यहाँ 'अवलम्ब्य' लेकर 'अनुरोधतः' का अर्थ हो जाता है **'छायामात्रेण अबलम्ब्य'**[२]।

प्रकृत विभाग के वैशिष्ट्य में तीन दृष्टिकोण हो सकते हैं-

(१) इस (२४वें विभाग) में नवीन तथ्य का समावेश है। विभागसंख्या १९ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१८) का विषय है **'ज्ञानानां स्वरूपवैचित्र्यम्'**, जबकि प्रकृत विभाग का **'देशकालवैचित्र्य'** है।

(२) विभागसंख्या २३ में, सभी ज्ञान अहं में ही प्रतिष्ठित होते है, ऐसा कहा गया है। फिर वेद्यभूमि का स्पर्श न होने पर 'इदन्ता' को स्थान नहीं प्राप्त हो रहा है, एतादृश शङ्का का निवारण प्रकृत विभाग का प्रयोजन है। अथवा यों कहें कि यह विभाग विभागसंख्या २३ का पूरक है।

(३) वस्तुतः यहाँ पूर्वकथन का उपसंहारमात्र[३] है, न तो यहाँ नवीन कथन है और न यह किसी का पूरक है।

---

१. यही अर्थ कारिका के 'केवलम्' शब्द के द्वारा समझा जाना चाहिये- **'केवलमित्येतद्वाक्यार्थविशेषणं भवत् अहमिति विश्रान्तिः परमार्थिकी तावदखण्डितैव तत्पृष्ठ एव तु सक्रमत्वं निर्भासत इति प्रकटयति। संवेद्यशब्दः परमृश्यताविश्रान्तः संवेदनस्य परामर्शसारत्वाभिधानाय व्याख्यातः**' (टिप्पणीसंख्या- ४४२)।

२. **'अनुरोधतः' इत्यस्यार्थमाह 'छाया' इति। छायामात्रेण-भासमात्रेण, न तु परमार्थतः, अवलंब्य, आश्रियेत्यर्थ;, एतेन ल्यब्लोपेऽयं तसिलितिसूचितम्**' (भास्करी, पृष्ठ २९७)

३. (i) **पूर्वोक्तमुपसंहरति** (इसी विभाग में कारिका की भूमिका का अन्तभाग)

(ii) **पूर्वसूक्तोक्त एवार्थः सूत्रान्तरेणाभिव्यज्यत इति भावः**' (टिप्पणी, संख्या- ४४१)

परिशेषिकायें

परिशेषिका- १

ग्रन्थग्रन्थकाराद्यनुक्रमणिका

(इसमें ग्रन्थ, ग्रन्थकार, उनसे सम्बन्ध वस्तुओं-स्थानों आदि के नामों का समावेश है। संख्या से भूमिका की एवं शताब्दी ईसा की समझनी चाहिये)

अत्रिगुप्त- अभिनवगुप्त के पूर्व जो अन्तर्वेद से कश्मीर के राजा ललितादित्य-द्वारा कश्मीर लाये गये थे। अत्रिगुप्त का समय ८वीं शताब्दी है। ६

अनुत्तराष्टिका- अभिनवगुप्त की एक कृति का नाम। २१

अनुभवनिवेदम्- अभिनवगुप्त की कृति का नाम। २२

अन्तर्वेद- गङ्गा एवं यमुना के मध्य का भूभाग। ६

अन्तर्वेदी - अन्तर्वेद का निवासी

अभिनन्द- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम। ७

अभिनवगुप्त- काश्मीरशैवाद्वैतदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य जिन्होंने विपुल ग्रन्थराशि का निर्माण किया। ५-२३

अभिनवभारती- भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्तकृत प्रसिद्ध व्याख्या। १६

अवन्तिवर्मा- कश्मीर के एक राजा का नाम। इनका समय ९वीं शताब्दी है। ३

अष्टादशसाहस्रिका- अभिनवगुप्त की रचना 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' का नाम है 'अष्टादशसाहस्री'। उत्पलाचार्य ने अपनी कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर 'विवृत्ति' संज्ञक टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त ने विवृतिसहित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका की जो व्याख्या लिखी है उसी का नाम है 'अष्टादशसाहस्रिका। विशेष विवेचन देखें पृष्ठ ९ एवं १४ पर

अष्टादशसाहस्री- 'अष्टादशसाहस्रिका' अर्थात् 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी'

को ही 'अष्टादशसाहस्त्री' कहा जाता है। ९

आगमशास्त्र- जिन ग्रन्थों को मानवकृति नहीं माना जाता अपितु उनका दैवी आविर्भाव माना जाता है, 'आगम' कहे जाते हैं। २

आदिसर्ग- विश्व को बाह्यरूप में प्रकाशहेतु परमशिव का सर्वप्रथम उन्मेष- 'विश्वनिर्माणेच्छुर्हि परमेश्वर: प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत्, अयमेव च आदिसर्ग: तत्र तत्रागमेषु उच्यते' (तन्त्रालोकविवेक- १/१३५, पृष्ठ १७५)

आनन्दवर्धन- इनकी रचना का नाम है 'ध्वन्यालोक' जो ध्वनि (काव्यशास्त्र) का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आनन्दवर्धन का समय ९वीं शताब्दी है। १५

इन्दुराज- अभिनवगुप्त के एक गुरु जिनसे अभिनवगुप्त ने 'ध्वनि' (काव्यशास्त्र) की शिक्षा प्राप्त की थी। इन्हीं को 'भट्टेन्दुराज' भी कहते हैं। ६

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा- 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' को ही 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' भी कहा जाता है। इसके रचयिता हैं ९वीं शताब्दी के आचार्य उत्पलदेव। ५

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- देखें 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा। ५

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका- उत्पलाचार्य ने अपनी कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर एक टीका भी लिखी थी। इसी टीका को 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका' नाम दिया गया था। यह टीका अप्राप्त है। ५

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी- अभिनवगुप्त की एक प्रसिद्ध कृति। ९

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी- अभिनवगुप्त की एक कृति का नाम। इसे 'अष्टादशसाहस्त्री' एवं 'अष्टादशसाहस्त्रिका' भी कहते हैं। ९,१४

ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति- उत्पलाचार्य ने अपनी की कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर जो संक्षिप्त व्याख्या लिखी थी उसे ही 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति' कहते हैं। ५

ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र- 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' के ही नाम 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' एवं 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' है। ५

उत्पल- 'उत्पल' को ही 'उत्पलाचार्य' एवं 'उत्पलदेव' कहते हैं। समय- ९वीं शताब्दी का अन्य एवं दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध। प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस आचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ५

उत्पलदेव- 'उत्पल' ही 'उत्पलदेव' हैं।

उत्पलाचार्य- 'उत्पल' ही 'उत्पलाचार्य' हैं।

उद्भट- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक। ७

कल्लट- ९वीं शताब्दी के भट्ट कल्लट ने 'स्पन्दकारिका' पर 'वृत्ति' लिखी है जिसका नाम 'स्पन्दकारिकावृत्ति' है। २-३

कालिदास- संस्कृत के कविकुल गुरु कालिदास जिन्होंने रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की है।

क्रमकेलि- इस अप्राप्य कृति को अभिनवगुप्तरचित बतलाया जाता है। २३

क्रमस्तोत्र- अभिनवगुप्तरचित एक स्तोत्र का नाम। २१

क्षेमराज- अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य क्षेमराज का समय ११वीं शताब्दी है। इन्होंने अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की है। २३, २४

गीतार्थसंग्रह- गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) पर लिखी गई अभिनवगुप्त की संक्षिप्त व्याख्या। इसे 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' एवं 'श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह' भी कहते हैं। १८, १९

गुरुटू- गुरुटू नीलकण्ठ। इन्होंने भट्ट कल्लटकृत 'स्पन्दकारिकावृत्ति' का हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या लिखी है जिसे मोतीलाल बनारसीदास ने १९८१ (प्रथम संस्करण) एवं १९८४ ईसवी (द्वितीय संस्करण) में प्रकाशित किया है।

घटकर्पर- एक ग्रन्थ का नाम

घटकर्परकुलकवृत्ति- अभिनवगुप्त की एक रचना का नाम

चतुः साहस्रिका- अभिनवगुप्तकृत 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' को 'चतु:साहस्रिका' तथा 'चतु:साहस्री' भी कहते हैं।११

चतु:साहस्री- अभिनवगुप्तकृत 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी'। ९

चन्द्रवर- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक। ७

चन्द्रिका- आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर अभिनवगुप्त के द्वारा लिखी गई 'लोचन' संज्ञक टीका के पहले किसी विद्वान् ने 'ध्वन्यालोक' पर 'चन्द्रिका' नामक टीका लिखी थी। १५

चुखुलक- अभिनवगुप्त के पिता 'नरसिंहगुप्त' का दूसरा नाम 'चुखुलक' था। ६

जयदेवसिंह- इन्होंने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' की हिन्दी व्याख्या लिखी है जिसे मोतीलाल बनारसीदस ने प्रकाशित किया है।

जयरथ- अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' पर 'तन्त्रालोकविवेक' ('विवेक') टीका की रचना इन्होंने की है। ८

टीका- उत्पलाचार्य ने अपनी कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर 'विवृत्ति' नामक 'टीका' (विस्तृत व्याख्या) लिखी थी। इसे 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका' के नाम से भी जाना जाता है। ५, १४

तन्त्रवटधानिका- अभिनवगुप्त की एक रचना। १४

तन्त्रसार- अभिनवगुप्त की एक रचना का नाम। १५

तन्त्रालोक- अभिनवगुप्तरचित एक महत्त्वपूर्णग्रन्थ जिसे 'शैवदर्शन का विश्वकोश' कह सकते हैं। ८

तन्त्रालोकविवेक- अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' पर जयरथद्वारा लिखी 'विवेक' नामक टीका को ही 'तन्त्रालोकविवेक' कहते हैं। ८

तन्त्रोच्चय- इसे भी अभिनवगुप्त की कृति कहा जाता है।

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र- अभिनवगुप्तप्रणीत स्तोत्र। २२

धर्म- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम। ७

ध्वन्यालोक- इसके रचयिता हैं आनन्दवर्धन। ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' है। १५

ध्वन्यालोकलोचन- देखें 'लोचन'। १५

नरसिंहगुप्त- अभिनवगुप्त के पिता का नाम। ६

नीलकण्ठ गुरुटू- देखें 'गुरुटू'

नेत्रतन्त्र- एक तन्त्र का नाम। २

परमार्थचर्चा- यह अभिनवगुप्त की रचना है। २१

परमार्थद्वादशिका- अभिनवगुप्त की एक कृति। २१

परमार्थसार- अभिनवगुप्त की एक कृति। १६

परात्रिंशिकाविवृति- अभिनवगुप्त की एक कृति

पर्यन्तपञ्चाशिका- अभिनवगुप्त की एक कृति

पूर्वपञ्चिका- कहा जाता है कि अभिनवगुप्त ने 'पूर्वपञ्चिका' की रचना की थी। २३

प्रत्यभिज्ञा- अद्वैतशैवदर्शन जिसके अनुसार जीव अपने परमार्थरूप- शिवरूप की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कर लेने पर शिवरूप- मुक्त हो जाता है। १

प्रत्यभिज्ञाकारिका- उत्पलदेवकृत 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' ग्रन्थ जिसे 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' भी कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञाकारिकाविमर्शिनी- अभिनवगुप्त ने उत्पलदेव की 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' पर जिस व्याख्या को लिखा उसे 'प्रत्यभिज्ञाकारिकाविमर्शिनी' भी कहा जाता है। ९

प्रत्यभिज्ञासूत्र- प्रत्यभिज्ञाकारिका

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्- क्षेमराज (११वीं शताब्दी) के द्वारा रचित ग्रन्थ। २३, २४

बृहत्प्रत्यभिज्ञा- अभिनवगुप्तविरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी' को 'बृहत्प्रत्यभिज्ञा' वृहत्प्रत्यभिज्ञा', 'अष्टादशसाहस्त्रिका' एवं 'अष्टादशसाहस्त्री' भी कहते हैं। १४

भक्तिविलास- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम। ७

भगवद्गीतार्थसंग्रह- गीता की अभिनवगुप्तकृत व्याख्या। १८,१९

भट्ट कल्लट- देखें 'कल्लट'

भट्टतोत- अभिनवगुप्त के एक गुरु जिनसे अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। ६

भट्टेन्दुराज- इन्हें 'इन्दुराज' भी कहते हैं। अभिनवगुपत ने इनके चरणों में बैठकर 'ध्वनि' की शिक्षा प्राप्त की थी। ६

भास्कर- (i) अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम। ७

(iii) भास्करकण्ठ, जिन्होंने अभिनवगुप्त की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' पर 'भास्करी' नामक अध्यधिक उपादेय टीका लिखी है। ३१

भास्करकण्ठ- २४

भास्करी- अभिनवगुप्त की 'विमर्शिनी' पर भास्कर की टीका। २४

भूतिराज- अभिनवगुप्त के गुरु जिनसे अभिनवगुप्त ने 'ब्रह्मविद्या' का अध्ययन किया था। ६

भूतिराजतनय- 'भूतिराज' के पुत्र होने के कारण इन्हें 'भूतिराजतनय' कहा जात है। वस्तुतः इनका नाम है 'हेलाराज'। हेलाराज (भूतिराजतनय) से अभिनवगुप्त ने द्वैताद्वैतशैवदर्शन का अध्ययन किया था। ६

भूतीश- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम 'भूतीश' था। ७

भेदवादविदारण- अप्राप्त कृति 'भेदवादविदारण' के अभिनवगुप्तद्वारारचित होने की सूचना मिलती है। २३

भैरवस्तोत्र- अभिनवगुप्तद्वारा रचित एक स्तोत्र। २१, २२

महोपदेशविंशतिका- अभिनवगुप्त की एक कृति का नाम। २१

मालिनीविजय- एक आगम का नाम। २

मालिनीविजयतन्त्र- 'मालिनीविजय' आगम ही है 'मालिनीविजयतन्त्र'। २

मालिनीविजयवार्तिक- अभिनवगुप्त की एक कृति। २०

मृगेन्द्रतन्त्र- एक तन्त्र का नाम। २

यशोवर्मा- यशोवर्मा ८वीं शताब्दी में कन्नौज के राजा थे। ६

योगानन्द- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक। ७

रहस्यपञ्चदशिका- अभिनवगुप्तरचित एक स्तोत्र का नाम। २१

राजानक जयरथ- देखें 'जयरथ'

रामकण्ठ- इन्होंने 'स्पन्दकारिका' पर 'विवृति' नामक व्याख्या लिखी है। ३

रुद्रयामलतन्त्र- एक आगम का नाम। २

लक्ष्मणगुप्त- अभिनवगुप्त के गुरु, जिनके चरणों में बैठकर अभिनवगुप्त ने क्रम एवं त्रिक् दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी। ६

लघुप्रक्रिया- 'लघुप्रक्रिया' को 'लघ्वीप्रकिया' नाम से भी जाना जाता है। इस अप्राप्त कृति के अभिनवगुप्तद्वारा रचित होने की सूचना मिलती है। २३

लघ्वी विमर्शिनी- अभिनवगुप्त 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' को 'लघ्वीविमर्शिनी' भी कहते हैं। ९

ध्वन्यालोकलोचन- आनन्दवर्धनकृत 'ध्वन्यालोक' पर अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई टीका का नाम है 'ध्वन्यालोकलोचन'। इसे 'लोचन भी कहते हैं। १५

लोचन- देखें 'ध्वन्यालोकलोचन'। १५

वटधानिका- तन्त्रवटधानिका। अभिनगुप्त की एक रचना। १४-१५

वरदराज- 'शिवसूत्रवार्तिक' के रचयिता। पिता का नाम मधुराज था।

वराहगुप्त- अभिनवगुप्त के पितामह थे 'वराहगुप्त'। ६

वसुगुप्त- शिवसूत्र के उद्धारक। २

वामन- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक। ७

वामनाथ- अभिनवगुप्त के गुरु जिनसे अभिनवगुप्त ने 'द्वैततन्त्र' की विद्या को ग्रहण किया था। ६

विचित्रनाथ- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक। ७

विज्ञानभैरवतन्त्र- एक तन्त्र का नाम। २

वितस्ता- 'झेलम' संज्ञक नदी। ६

विमर्शिनी- देखें 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी'। ९

विमलकला- अभिनवगुप्त की माता का नाम। ६

विवृति- (i) उत्पलाचार्य द्वारा अपनी ही कृति 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखी गई टीका। १४

(ii) 'परात्रिंशिका' ग्रन्थ पर सोमानन्द के द्वारा लिखी गई व्याख्या का नाम 'परात्रिंशिकाविवृति ('विवृति') है। ५

(iii) कहा जाता है कि सोमानन्द ने अपनी 'शिवदृष्टि' पर 'विवृति' नामक व्याख्या लिखी थी। ५

(iv) 'स्पन्दकारिका' पर रामकण्ठ ने 'विवृति' नामक व्याख्या लिखी है। ३

विवृतिविमर्शिनी- देखें 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी। १४

विवेक- अभिनवगुप्त की कृति 'तन्त्रालोक' पर जयरथ की टीका को 'विवेक' (तन्त्रालोकविवेक) कहते हैं। ८

वृत्ति- अपनी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर उत्पलदेव द्वारा लिखी गई 'वृत्ति'। इसे 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति' भी कहते हैं। ५, ९

वृहत्प्रत्यभिज्ञा- देखें 'बृहत्प्रत्यभिज्ञा'। १४

शङ्करदिग्विजय- 'शङ्करदिग्विजय' के लेखक माधवाचार्य हैं। ५-६

शब्दकल्पद्रुम- ५ खण्डों में प्रकाशित एक प्रसिद्ध संस्कृत-शब्दकोश

शिव- अभिनवगुप्त ने एक शिक्षक का नाम। ७

शिवदृष्टि- सोमानन्द की एक कृति का नाम। ५

शिवदृष्ट्यालोचन- अभिनवगुप्त की एक अप्राप्यकृति। २३

शिवभक्ति- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम। ७

शिवसूत्र- 'शिवसूत्र' की गणना 'आगम' के अन्तर्गत होती है किन्तु कतिपय विद्वान् इसे वसुगुप्त की रचना मानते हैं। २

शिवसूत्रवार्तिक- वरदराज की रचना। २४

श्रीचन्द्र- अभिनवगुप्त के एक शिक्षक का नाम। ७

श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह- देखें 'भगवद्गीतासंग्रह'। १८, १९

सोमानन्द- प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रमुख आचार्य। ४

स्तोत्रावली- उत्पलदेव की रचना। ५

स्पन्दकारिका- अधिक विद्वान् इसे वसुवन्धु की रचना मानने के पक्ष में हैं। २

स्पन्दकारिकावृत्ति- 'स्पन्दकारिका' पर लिखी कल्लट की 'वृत्ति'। ३

स्पन्दनिर्णय- 'स्पन्दकारिका' पर लिखी क्षेमराज की व्याख्या। ३

स्पन्दप्रदीपिका- उत्पल (वैष्णव) की रचना। ३

स्पन्दसंदोह- इसके रचयिता क्षेमेन्द्र हैं। ३

स्वच्छन्दतन्त्र- एक प्रसिद्ध तन्त्र का नाम। २

हेलाराज- देखें 'भूतिराजतनय'। ६

परिशेषिका - २

उद्धरणानुक्रमणिका

उद्धरणकोष (उद्धरणपरिशेषिका)

(कुल उद्धरणों की संख्या ३३ है। उद्धरणों के पूर्व लिखी संख्या क्रमसंख्या है। उद्धरणों का समावेश वर्णानुक्रम से नहीं किया गया है, अपितु पाठक्रम से अर्थात् पाठ्यग्रन्थ में जो उद्धरण पहले आया है उसका सन्निवेश पहले किया गया है) विमर्शिनी में दिये गये पृष्ठसंख्या से अभिप्राय परिशेषिकासंख्या ४ में 'उपयुक्तग्रन्थसूची' के अन्तर्गत उल्लिखित 'विमर्शिनी' की पृष्ठसंख्या से है।

१. **'तत्तदाकस्मिकाभासः'** (विमर्शिनी १/५/७ की भूमिका, पृष्ठ १८२)

सन्दर्भ- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका १/५/४, पृष्ठ १६४

सम्पूर्ण कारिका का अर्थ विभागसंख्या १ में देखें। कारिका संख्या- १/५/४ तथा १/५/५ का अर्थ एक साथ समझना चाहिये। इनमें सौत्रान्तिक विज्ञानवाद का खण्डन करते हुये प्रकाशबाह्य अर्थों का सद्भाव दिखलाने का प्रयास करता है- **'ततो द्वयेन प्रकाशबाह्यानामर्थानां सद्भावं विज्ञानोपगतवासनादूषणेन दृढीकृतम् आशङ्क्य'** (विमर्शिनी- १/५/१ की भूमिका, पृष्ठ १५१) कारिका १/५/७ से सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी दोनों के मतों का खण्डन होता है।

२. **'एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता'** (विमर्शिनी- १/५/८, पृष्ठ १८९)

सन्दर्भ- (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- २/३/२, पृष्ठ ६४)

कारिका- २/३/२ एवं २/३/१ की विमर्शिनी एक साथ ही है। दोनों कारिकायें इस प्रकार हैं-

'इदमेतादृगित्येवं यद्वशाद् व्यवतिष्ठते।
वस्तु प्रमाणं तत्सोऽपि स्वाभासोऽभिनवोदयः।'' (२/३/१)
'सोऽन्तस्तथाविमर्शात्मा देशकालाद्यभेदिनि।
एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता।।' (२/३/२)

प्रासङ्गिक विवेचन विभागसंख्या ५ में देख सकते हैं।

३. **'भ्रान्तित्वे चाध्यवसायस्य'** (विमर्शिनी- १/५/९, पृष्ठ १९१)

सन्दर्भ- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका- १/३/५, पृष्ठ १०१

यहाँ अभिनवगुप्त **'भ्रान्तित्वे चाध्यवसायस्य'** को 'सूत्र' कहते हैं- **'भ्रान्तित्वे चाध्यवायस्य' इतिसूत्रे** (पृष्ठ १९१)

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'भ्रान्तित्वे चाध्यवसायस्य न जडाद्विषयस्थितिः।

ततोऽ जाड्ये निजोल्लेखनिष्ठान्नार्थस्थितिस्तव।।' (१/३/५)

प्रासङ्गिक विवेचन विभागसंख्या ६ में देख सकेंगे।

४. **'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्'** (विमर्शिनी- १/५/९, पृष्ठ १९१)

सन्दर्भ- प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/२, पृष्ठ १५४)

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्प्रकाशात्मतया विना।

न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता।।'

कारिका का अर्थ आदि विभाग संख्या ६ की व्याख्या में देखें।

५. **'चिदात्मैव हि देवः'** (विमर्शिनी १/५/९, पृष्ठ १९१)

सन्दर्भ- प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/७, पृष्ठ १८२

विशेष विवेचन विभागसंख्या १-३ में किया गया है।

६. **'प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यम्'** (विमर्शिनी- १/५/१०, पृष्ठ १९२)

सन्दर्भ- प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/८/८, पृष्ठ ३३३

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'विकल्पे योऽयमुल्लेखः सोऽपि बाह्यः पृथक्प्रथः।

प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यं ततो भेदो हि बाह्यता।।'

उद्धृत अंश का अर्थ विभागसंख्या ७ में देखा जा सकता है।

७. **'तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता'** (विमर्शिनी- १/५/१०, पृष्ठ १९३)

सन्दर्भ- प्रत्यभिज्ञाकारिका- २/४/२१, पृष्ठ १८३

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना।

तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुताकर्तृताक्रिया।।'

अर्थ- इस प्रकार घट-पट आदि आभासरूप जगत् के रूप में (उत्पन्न) स्थित (एवं लय को प्राप्त) होने के इच्छुक (स्वतन्त्र) महेश्वर की इच्छा ही कारण, कर्ता एवं कर्म है (सारांश यह कि महेश्वर ही विश्वकर्ता है- **'तेन महेश्वर एव भगवान् विश्वकर्ता'**- विमर्शिनी- २/४/२१, पृष्ठ १८४)। विभागसंख्या ७ में उद्धरण प्राप्त है।

८. **सदासृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासने।**

सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः।।'

(विमर्शिनी- १/५/१०, पृष्ठ १९५)

सन्दर्भ- पूरा सन्दर्भ प्राप्त नहीं हो सका है। अभिनवगुप्त ने **'तदुक्तममाचार्येण'** केवल इतना ही कहा है।

अर्थ- भास्करी के अनुसार प्रकृत उद्धरण की व्याख्या- **'किमुक्तमित्यत आह 'सदा' इति। स्थितिकृतं सुखं स्थितिसुखं तत्र आस्ते इति तादृशाय। आहार :- निगरणम्, संहारः इति यावत्। ननु कथं विरुद्धानां क्रमभाविनाञ्च सृष्ट्यादीनां युगपत् नित्यं भवति विनोदादिकारित्वम्? शृणु तत्र अनादित्वेऽपि कालग्रस्तशिष्यबुध्यपेक्षया प्रथमभूतायां सृष्टौ तावत् पूर्वतरं संहारकाले स्थितायाः संजिहीर्षायाः संहारः, तत्रैवोत्पन्नायाः सर्जनेच्छायाश्च स्थितिः, तद्विषयभूतानां भावानामुद्भविष्यमाणस्थितोच्छायाश्च सृष्टिः। स्थितौ तु सृष्टौ स्थितायाः सर्जनेच्छायाः संहारः। तत्रैवोत्पन्नायाः स्थितीच्छायाः तद्विषयभूतानां भावानाञ्च स्थितिःसंजिहीर्षायाः सृष्टिः, संहारे तु स्थितौ स्थितायाः स्थितीच्छायाः तद्विषयाणां भावानाञ्च संहारः,.....चिन्मात्रस्य तत्र सर्वथा तत्रोद्यन्तृत्वेन ज्ञेयम्।'** (भास्करी, पृष्ठ २३९)

९. **'मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः।**

कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः।।'

(विमर्शिनी- १/५/१०, पृष्ठ १९५)

अभिनवगुप्त ने इसे **भट्टनारायणकृत** कहा है (**'श्रीभट्टनारायणेनापि'**)

इसका अर्थ विभागसंख्या ८ में देखें। विशेष अर्थ भास्करी, पृष्ठ २४० पर मिलेगा।

१०. **'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।**

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्।।'

'इदमित्यस्य.....सोऽहमित्ययम्' इस उदाहरण को विमर्शिनी (१/१/१, पृष्ठ १८ में भी) उद्धृत किया गया है।

सन्दर्भ- (अजडप्रमातृसिद्धि- १५)। **अजडप्रमातृसिद्धि'** नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं उत्पलाचार्य। इसमें कुछ २७ कारिकायें हैं। प्रकृत कारिका १५वीं है। **काश्मीरग्रन्थावलि** के अन्तर्गत **ग्रन्थाङ्क ३४** जो प्रकाशित हुआ है, उसका नाम है **'सिद्धित्रयी'**। जैसा कि इस कृति का नाम है इसके अन्तर्गत- (१) **अजडप्रमातृसिद्धि** (कुल २७ कारिकायें), (२) **सम्बन्धसिद्धि** (२१ कारिकायें), (३) **'ईश्वरसिद्धि'** (५६ कारिकायें) ये तीन कृतियाँ तो हैं ही, इनके अतिरिक्त **प्रत्यभिज्ञावृत्ति** भी है। इन चारों ग्रन्थों के रचयिता उत्पलदेव ही हैं।

ज्ञातव्य है कि **'अजडप्रमातृसिद्धि'** पर **हरभट्ट शास्त्री** की **वृत्ति** (व्याख्या) है। यहाँ प्रकृत कारिका की व्याख्या इस प्रकार है-

'इदमिति विच्छिन्नतया विमृश्यस्यास्य जडस्य या संवित्स्वरूपविश्रान्तिलक्षणा कृतार्थता सोऽयमहमेव तत्तद्भाववैचित्र्यात्मना प्रकाशे इति चैतन्यप्रकाशतादात्म्यादहं प्रत्यवमर्शात्मा जीवितस्थानीयो, यदाश्रया जडमपि वस्तु विमृष्टस्वभावप्रमात्रैक्यादहं-भावविश्रान्तेरजडत्वमायाति। वस्तुतः परप्रमात्रैकस्वभावा इत्यद्वैतोऽजडप्रमातृभाव एव सर्वतः पारिपूर्ण्येन विजृम्भते इति तात्पर्यम्।

अभिप्राय- कारिका का अभिप्राय यह है कि जब अर्थात् जिस स्थिति में विमर्श (अहंभाव) विच्छिन्न (टूट जाता) हो जाता है और बोध 'इदन्तया' होता है उस स्थिति में यह समझना चाहिये कि यहाँ जड को भी अहंरूप समझना ही परमार्थ है क्योंकि तत्त्व अद्वैत परमेश ही है और उसका अहंभावेन बोध ही तत्त्व है।

विभाग संख्या ९।

११. **'चैतन्यमात्मा**

(विमर्शिनी- १/५/१२, पृष्ठ २००)

सन्दर्भ- शिवसूत्र- १/१)

यहाँ धर्मी (चेतन, चैतन्यधर्मयुक्त) आत्मा को धर्म ('चैतन्य) कहा गया है। विभागसंख्या १०।

१२. **'चितिशक्तिरपरिणामिनी'**

(विमर्शिनी- १/५/१२, पृष्ठ २००)

प्रतीत होता है कि योगसूत्र- **'पुरुषार्थशून्यानां .... चितिशक्तेरिति'** (४/३४) में **'चितिशक्तेः'** यहाँ कुछ परिवर्तन करके कहा गया है, अथवा अभिनवगुप्त को

ऐसा ही पाठ मिला हो। भास्करी ने इसे भी योगसूत्र ही माना है क्योंकि वहाँ **'पतञ्जलिसूत्रेष्वस्य सूत्रत्रयस्य स्थितत्वात्'** (भास्करी, पृष्ठ २४) इन शब्दों का प्रयोग भास्करभट्ट ने किया है जिनमें से **'सूत्रत्रयस्य'** पद से निम्नलिखित तीनों सूत्रों की ओर सङ्केत किया गया है- (१) **'चितिशक्तिरपरिणामिनी'**, (२) **'....तद्दृशेः कैवल्यम्'** (३) **द्रष्टा दृशिमात्रः'**। किन्तु जैसा कि बतलाया गया है **'चितिशक्तिरपरिणामिनी'** ऐसा कोई भी योगसूत्र मिलता नहीं।

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भी वही अनुवाद किया है जो अक्षरार्थ से निकलता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि तीन सभी उद्धरण पतञ्जलि के हैं तथा **'चितिशक्तिरपरिणामिनी'** में उन्होंने सन्दर्भ नहीं लिखा है। विमर्शिनी में भी सन्दर्भ नहीं दिया गया है। मूल योगसूत्र में यह अंश प्राप्त नहीं है। विषय अनुसन्धेय है। विभाग संख्या १०

१३. **'......तद्दृशेः कैवल्यम्'** (विमर्शिनी- १/५/१२, पृष्ठ २००)

सन्दर्भ- (अंशतः योगसूत्र- २/२५०

सम्पूर्ण योगसूत्र इस प्रकार है- **'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्'** (योगसूत्र- २/२५)। विभागसंख्या १०

१४. **'द्रष्टा दृशिमात्रः'** (विमर्शिनी- १/५/१२, पृष्ठ २००)

सन्दर्भ- अंशतः योगसूत्र- २/२०।

सम्पूर्ण सूत्र इस प्रकार है-

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' (योगसूत्र २/२०)। यहाँ अभिनवगुप्त ने दो योगसूत्रों को अव्यवहितत्वेन उपस्थित किया है किन्तु क्रमभिन्नता कर दी है (पहले सूत्रसंख्या- २५, तदनन्तर सूत्रसंख्या- २० है)। कारण ? विभागसंख्या १०

१५. **'आत्मा चैतन्यम्'** विमर्शिनी- १/५/१३, पृष्ठ २०२)

सन्दर्भ- देखें क्रमसंख्या ११ जहाँ सूत्र का- उद्धरण का रूप है- **'चैतन्यमात्मा'**। यहाँ पदव्यत्यय करके उद्धरण का रूप **'आत्मा चैतन्यम्'** कर दिया गया है। विभाग-संख्या १०

१६. **'......तेन जडात् स हि विलक्षणः'** (विमर्शिनी- १/५/१३, पृष्ठ २०७)

सन्दर्भ- प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१२ का अन्तभाग। विवेचन देखें विभागसंख्या १० में

१७. **'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः।**
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दिक्क्रियः शिवः।।'

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २०९)

सन्दर्भ- शिवदृष्टि- १/२

शिवदृष्टि की प्रकृत कारिका पर उत्पलदेव की वृत्ति इस प्रकार है-

'सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यमिति प्रतिज्ञा। ......। यथा च चिन्निर्वृतीच्छाज्ञानक्रिया घटपटपर्यन्तसर्वभावेषु रफुरन्ति तथाग्रतो वक्ष्यते।.......। निर्वता वेद्यनिराकाङ्क्षा पूर्णा चिद्यस्य सः, तथा विभुरात्मसात्कृतसमस्तवेद्यार्थाः, अनिरुद्ध इच्छाप्रसरो यस्य, प्रसरन्त्यौ दृग्ज्ञानं क्रिया च यस्य स तथालक्षणः शिवः सर्वेष्वात्मैव। (उत्पलदेववृत्ति, पृष्ठ ५-६)। अर्थ देखें विभागसंख्या १३ में।

१८. **'अतिकुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।**
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः।।'

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २०९)

सन्दर्भ- स्पन्दकारिका २/६। यदि स्पन्दकारिकाओं को निष्यन्द में विभक्त न किया जाये तो प्रकृत कारिका की क्रमसंख्या २२ (स्पन्दकारिका २२) होती है जैसा कि विमर्शिनी में अङ्कित है।

अर्थ- प्रतिष्ठित (सामान्य) स्पन्द उस क्षण में होता है जब योगी अध्यधिक कुद्ध अथवा अध्यधिक प्रसन्न हो अथवा 'क्या करूँ' ऐसा विचार कर रहा हो या दौड़ रहा हो।

प्रतिष्ठित स्पन्द इष्ट होता है, स्वाभाविक होता है, सदा रहता है किन्तु लौकिक दशा में अतिकुद्ध आदि होने पर जो एक अप्रकम्पस्थिति जो किञ्चिच्चलत्वरूप अथवा यह कहा जाये कि चलत्व का हेतु होता है प्रतिष्ठित स्पन्द या सामान्य स्पन्द कहा जाता है। देखिये परिशेषिका में 'स्पन्द' 'सामान्यस्पन्द' 'प्रतिष्ठित स्पन्द' 'विशेष स्पन्द' आदि शब्द। विभागसंख्या १३

१९. **'.....स्पन्दतत्त्वविविक्तये'** (विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २०९)

सन्दर्भ- स्पन्दकारिका (२/५, अथवा २१)

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति।।'

अर्थ- अतः (पूर्वकथित हेतु को ध्यान में रखकर स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की अभिव्यक्तिहेतु निरन्तर उद्योगशील (योगी) जाग्रदवस्था में ही स्वभाव को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रकृत उद्धरण को विभाग संख्या १३ में देखा जा सकता है।

२०. **'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः'** (विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २०९)

सन्दर्भ- स्पन्दकारिका ('२/३' अथवा १९)

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है-

'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।

लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः।।'

अर्थ- सामान्य स्पन्द का आश्रय लेकर सत्ता को प्राप्त करने वाले गुणादिस्पन्द के प्रवाह ज्ञातज्ञातव्यार्थ योगी के विरोधी नहीं होते।

संस्कृतिवृत्ति- **गुणस्पन्दस्य सत्त्वरजस्तमोरूपस्य ये निःष्यन्दाः प्रवाहाः, ते सामान्यस्पन्दमाश्रित्य प्रसृता अपि सततं ज्ञस्य विदितवेद्यस्य योगिनः स्युर्भवेयुः भवन्त्यपरिपन्थिनः अनाच्छादकाः स्वभावस्य।** (भट्टकल्लटवृत्ति)

उद्धरण देख सकते है। विभाग संख्या १३ में

२१. **'महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते'** (विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २११)

अर्थ- महासत्ता महादेवी है जो विश्व का जीवन कही जाती है। "अत्र वृद्धसम्मतिमाह 'महा' इति। **'विश्वजीवनम्' इत्यनेन देशकालाविष्टत्वमप्युक्तम्, तयोरपि विश्वान्तर्गतत्वात्, यच्च येन जीव्यते न तत्तस्य विशेषणं युक्तम्'**

(भास्करी, पृष्ठ २६१)। उद्धरण विभाग १४ में देखेंगे

२२. **'यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी मता।'**

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २११)

सन्दर्भ- श्रीसारशास्त्र (**'श्रीसारशास्त्रेऽपि निरूपितम्'**- विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २११)। 'मालिनीविजय' को ही **'श्रीसारशास्त्र'** कहते हैं- **'श्रीसारशास्त्रे मालिनीविजये'** (भास्करी, पृष्ठ २६२) विभागसंख्या १४

२३. **'न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः।'**

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २१२)। विभाग १४

२४. **'तत्र तावत्समापन्ना मातृभावम्.....।'** (विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २१२)

सन्दर्भ- मालिनीविजय- ३/९/५

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की अज्ञातकर्तृक व्याख्या के अनुसार)। विभागसंख्या १४ में उद्धरण मिलेगा।

२५. **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते।।'

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २१२)

सन्दर्भ- वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड- १२३)

प्रकृतकारिका की संस्कृत व्याख्या- **'सः प्रत्ययः ज्ञानं लोके नास्ति यः शब्दानुगमादृते शब्दानुगमं विना स्यात् सर्वमपि ज्ञानं शब्दविषयकमित्यर्थः, शब्दार्थयोरभेदात् अर्थस्य शब्दप्रकाश्यत्वनियमाद्वेति भावः। अत्रानुव्यवसायरूपं प्रमाणमाह- अनुविद्धमिति। सर्वं ज्ञानं शब्देन अनुविद्धमिव संसृष्टमिव भासते यज्ज्ञानं यदाकारावग्रहं तत्तद्विषयकमिति व्याप्तेः ज्ञानमात्रस्य शब्दाकारावग्रहतया शब्दविषयकत्वनियम इति भावः'**

(सूर्यनारायणकृत 'भावप्रदीप' व्याख्या, पृष्ठ १३३) शेष विवेचन विभाग १४ में।

२६. **'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।**
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।'

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २१२)

सन्दर्भ- वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्ड- १२४

'तत्रभवद्भर्तृहरिणापि'- विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २१२।

विशेष देखें विभागसंख्या १४ में।

२७. **'सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।**
यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्।।'

(विमर्शिनी- १/५/१४, पृष्ठ २१२)

सन्दर्भ- वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड- १२६)

विशेष देखें विभागसंख्या १४ की व्याख्या में।

२८. **'इदमित्यस्य'** (विमर्शिनी- १/५/१७, पृष्ठ २२१)

यही उद्धरण अन्यत्र (विमर्शिनी में ही) प्राप्त होता है- देखें उद्धरण संख्या १० (तदनुसार विभागसंख्या ९)

प्रकृतस्थल (क्रमसंख्या २८) की विभागसंख्या है १८।

२९. **'सर्व एव विमर्शः प्रकाशात् अविच्छिन्न एव'**

(विमर्शिनी- १/५/२०, पृष्ठ २३३)

लगता है यहाँ उपसंहार किया गया है क्योंकि इसके पूर्व हेतुरूप में 'प्रतिष्ठालाभात्' एवं 'तस्मात्' के द्वारा निगमनरूप प्राप्त होता है। भास्करी भी ऐसा ही कुछ कहती है- **''फलितं स्वामीष्टं सिद्धत्वेन कथयति 'तस्मात् इति''** (पृष्ठ २९५)।

उद्धरण विभागसंख्या २३ में प्राप्त है।

३०. **'आतश्चोपसर्गे'** (विमर्शिनी- १/५/२०, पृष्ठ २३३)

सन्दर्भ- अष्टाध्यायी- ३/३/१०६

'आतश्चोपसर्गे'- ३/३/१०६

'आकारान्तेभ्य उपसर्गे उपपदे स्त्रियामङ्- प्रत्ययो भवति' काशिका

'अध्यवसा' रूप की निष्पत्ति = अधि+अव+षो ('षोऽन्तकर्मणि'- देखें सूत्र- २/४/७८ की लघुसिद्धान्तकौमुदी- वृत्ति। 'ष' धातु 'नाशक्रिया' अर्थ में प्रयुक्त होती है) यहाँ 'धात्वादे', षः सः' (अष्टाध्यायी- ६/१/६४) से 'ष्' के स्थान पर 'स्' होकर 'अध्यवसो होकर पुनः 'आदेच उपदेशे शिति' (६/१/४५)- ('एजन्तो यो धातुरुपदेशे तस्याकारादेशो भवति' काशिका) से 'अध्यवसा' रूप बनता है। अब 'आतश्चोपसर्गे' (अष्टाध्यायी- ३/३/१०६) से 'अङ्' प्रत्यय होने पर 'अध्यवसा+अङ्' = अध्यवस् अ = 'अध्यवस' रूप और 'अजाद्यतष्टाप्' (अष्टाध्यायी- ४/१/४) से 'अध्यवसा' रूप बना।

विस्तार देखें विभागसंख्या २३ में।

३१. **'ज्ञानस्मृत्यादिशक्तिभिस्तद्वान् परमेश्वरः'**

(विमर्शिनी- १/५/२१ की भूमिका, पृष्ठ २३४)

सन्दर्भ- ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यभिज्ञाकारिका (१/५/२०) में जो 'परेशशक्तिरात्मेव भासते' का अर्थ है उसी को 'ज्ञानस्मृत्यादिशक्तिभिस्तद्वान् परमेश्वरः' इन शब्दों में कहा गया है- 'पूर्वसूत्रोक्त एवार्थः सूत्रान्तरेणाभिव्यज्यत इति भावः' (टिप्पणीसंख्या ४४१) यहाँ 'सूत्रान्तरेण' से 'ज्ञानस्मृत्यादि....' को भी ग्रहण किया जा सकेगा।

शेष देखें विभाग संख्या २३ में।

३२. **'ज्ञानादयोऽस्य भगवतः शक्तयः'** (विमर्शिनी- १/५/२१, पृष्ठ २३५)

सन्दर्भ- ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृत उद्धरण द्वारा 'मायाशक्त्या.... नामभिः' (प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१८) की ओर सङ्केत किया जा रहा है। देखें विभाग २४

३३. **'मायाशक्त्या विभोः'**

(विमर्शिनी- १/५/२१, पृष्ठ २३५)

सन्दर्भ- प्रत्यभिज्ञाकारिका- १/५/१८, पृष्ठ २२२)

देखें विभागसंख्या २४

परिशेषिका - ३

(पारिभाषिकशब्दादिकोशानुक्रमणिका)

अख्याति- अज्ञान, भ्रम, प्रमाता का अपने स्वतन्त्र स्वरूप का अज्ञान,, अशुद्धि

अजाड्य- चैतन्य

अज्ञान- विकाररहित आत्मा जो अपने शरीर को न पहचान करके शरीर आदि में 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करता है, एतादृश अभिमान है अज्ञान-

'अज्ञानं नाम जन्मपरिणामवृद्धिक्षयविनाशात्मकविकारविरहितनित्य-निर्विकारस्वस्वभावाप्रत्यभिज्ञानात् जन्मादिविकाराधिकरणे कलेवरादौ आत्माभिमानः'

(स्पन्दकारिकाविवृति- ४/१०, पृष्ठ ११४)

अद्वैतशैवदर्शन- प्रत्यभिज्ञादर्शन, इस शैवदर्शन में केवल एक तत्त्व ही पारमार्थिक माना गया है। वह है शिव। दूसरा पृथक् कोई तत्त्व मान्य न होने के कारण 'अद्वैत' पद का प्रयोग किया गया है।

'अद्वैत' शब्द का अर्थ है द्वैत का अभाव, एकत्व। माना कि 'शिव' तत्त्व एक ही है, पुनः शिव ही अनेक रूपों को धारण करता है। इस प्रकार उसके भेद भी होते हैं तथापि उसका अद्वैतभाव अक्षुण्ण रहता है-

'एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम्।

तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता।।'

शिवदृष्टि- १/४९

यहाँ उत्पलाचार्य कहते हैं कि- 'भेदा अपि तदात्मकाः'। इस प्रकार अद्वैत की सर्वत्र रक्षा रहती है, जगत् की सत्यता की एवं शिवरूपता की भी। अभिनवगुप्त के अनुसार 'अद्वैतशैवदर्शन' के आधार ६४ शैवागम हैं।

अध्यवसा- अध्यवसाय (सविकल्प ज्ञान), निश्चय। देखें 'अध्यवसाय' शब्द।

अध्यवसाय- निश्चय-

'बुद्ध्या विषयेण च विषयत्वपर्यन्तभाजा अध्यवसायो निश्चयः' (विमर्शिनी-१/५/१८, पृष्ठ २२४)

अनन्तर- अव्यवहित पूर्व या अव्यवहित पर। देखें विभागसंख्या ५ की 'व्याख्या' में।

अनन्यमुखप्रेक्षित्व' (अन्+अन्य+मुख+प्रेक्षित्व)- (किसी कार्य के सम्पादन में) किसी अन्य का मुख न देखने वाला होना। अन्यमुखप्रेक्षी- वह व्यक्ति हो किसी कार्य के लिये 'दूसरे का मुख देखता हो- जोहता हो, दूसरे के सहारे हो' वह है अन्यमुखप्रेक्षी। जो व्यक्ति ऐसा नहीं है वह है 'अन्नयमुखप्रेक्षी'। 'अनन्यमुखप्रेक्षी' का धर्म है 'अनन्यमुखप्रेक्षित्व'।

अनपह्नवनीय- (वह सत्य जो) छिपाने योग्न न हो, छिपाया न जा सके। अवश्यस्वीकर्तव्य।

अपह्नव = अपह्नवन = छिपाव (अपह्नवनीय = अप+√ह्नु (किसी से कुछ छिपाना)+अनीयर्'। अनपह्नवनीय = 'अन्+अप√ह्नु+अनीयर्'।

अनपाय- अनश्वरता, नित्यता; अविनाशी। 'अन्+अपाय' देखें 'अपाय' शब्द।

अनवभास- अप्रकाश

अनवस्था- विराम की स्थिति न होना, अनन्त की दशा, कहीं न विराम होने की दशा। अनवस्था को प्राय: दोष माना जाता है।

अनाभात- अननुभूत, अप्रकाशित

अनुत्तर- परमशिव, परासंविद्, पूर्णसंविद्। 'न विद्यते उत्तरमधिकं यत:' (परात्रिंशिकाविवरण- १९) अनुत्तर को शब्दों से नहीं जाना जासकता। शब्दों से हमें जिस तत्त्व का बोध होता है, वह अल्प है। हाँ, शब्दों से उसके आंशिकरूप का कुछ सङ्केत सम्भव है। अनुत्तर मानव की मेधा, बुद्धि, कल्पना एवं शक्ति से परे है अत: उसका बोध या यथार्थ अनुभव कैसे सम्भव है ? यह परिवर्तनशील जगत् सम्पूर्ण का एक छोटा अंश है, जबकि अनुत्तर देश-काल एवं सङ्केत की सीमा से परे है- **'उत्तरं च शब्दनं तत् सर्वथा ईदृशं तादृशम् इति व्यवच्छेदं कुर्यात्। तद्यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नमिदमनुत्तरम्'** (परात्रिंशिकाविवरण, २१)

वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अनुत्तर भाषा एवं विचार से शब्द एवं मन-बुद्धि से परे है। शब्द से परे होने पर भी शब्द के माध्यम से उसका यथासम्भव परिचय देने का प्रयास सदैव रहा है।

अनुपाय- प्रत्यभिज्ञोपाय

अनुभव- यथा **'रामः घटम् अनुकरोति'** तथा **'राम; घटम् अनुभवति' = 'यथा प्राक् घटः भवति तथा पश्चात् (अनु) रामः भवति' = 'रामः घट एव भवति' = 'रामघटयोरैक्यं भवति'।**

तथैव **'तथा च घटो मां स्फुरति इति कोऽर्थः, यदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टो मद्रूपतामापन्न एव चिन्मयत्वात्'**।

अनुपलम्भ- अभाव, अप्राप्ति, अज्ञान

अनूप- दलदल, तालाब

अन्तःकरण- (i) बुद्धि, अहङ्कार और मन ये तीन हैं 'अन्तःकरण'

(ii) भीतर करना, 'अन्तर् (अन्तः) = भीतर'+'करण'= √कृ+ल्युट' अर्थात् करना

यहाँ 'अन्तःकरण' का अर्थ होता है 'भीतर करना' अर्थात् बाह्य वस्तु को भीतरी (आन्तर) बनाना = संहार। देखें विभागसंख्या ९।

अन्तारूपता- **'अन्तर्+रूपता'** = 'अन्त+रूपता' (सूत्र **'रोरि'** (अस्टाध्यायी- ८/३/१४) से पुनः सूत्र **'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'** (अष्टाध्यायी- ६/३/१११) से 'अन्ता+रूपता' = 'अन्तारूपता' हो जाता है।

अपरा- देखें विभागसंख्या १२

अपाय- वियोग, नाश, प्रस्थान, हानि।

अपोह- अपोहन

अपोहनशक्ति- गोपनशक्ति, स्वस्वरूपगोपनशक्ति

अप्रतिहत- प्रतीघातरहित- 'अप्रतहतम् - प्रतीघातरहितम्'

(भास्करी, पृष्ठ २७१)। जिसे रोका ना जा सके, जिसे खण्डित न किया जा सके)

अप्रतीघात- अप्रतिहत

अभिलाप- शब्द

अर्थजात- वस्तुयें, अर्थसमूह, पदार्थजात

अवभास- प्रकाश

अवभासन- प्रकाशन

अवभासिष्ये- प्रकाशित होगा, अवभासित होगा।

अव √भासृ (दीप्तौ, प्रकाशित होना) अकर्मक-आत्मनेपदी- लट् (तिप्)

अवस्तु- तुच्छ

अवैतत्य- वैतत्य (फैला हुआ होना, फैलाव) का अभाव, फैला हुआ न होना।

असंचेत्यमान- असंभाव्यमान, देखें टिप्पणी संख्या २२२

अस्थैर्य- स्थिरता का न होना, 'अ+स्थैर्य')

अहंता- अहंभाव

आक्रमण- पार करना, आगे बढ़ना,

आक्रान्तता- पार किया होना, आक्रान्त होना

आगम- (i) **'आ समन्तात् अर्थं गमयति इति आगमसंज्ञकं प्रमाणम्'** (विमर्शिनी २/३/२, पृष्ठ ८२)

(ii) दैवी शास्त्रसम्पत्ति। देखें विभाग संख्या १०

आचिक्रमिषा- 'आक्रमण' अर्थात् 'आगे बढ़ने की इच्छा

आणव- तीन मलों में से एक मल। देखें 'आणवमल'

आणवमल- यह मल परमचैतन्य को 'अणु' बना देता है। इससे उसकी परमशक्तिमत्ता विलुप्त हो जाती है। आणवमल से परमचैतन्य सङ्कुचित हो जाता है। वह अपने को अपूर्ण मानने लगता है।

आत्मा- चैतन्य, परासंविद्, अनुत्तर, परमशिव

आनन्द- परमेश्वर की स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति जिससे परमेश बिना किसी पदार्थ की अपेक्षा किये आह्लाद का अनुभव करता है- **'आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्'** (तन्त्रसार)

आभात- अनुभूत, प्रत्यक्ष

आभास- प्रकाश, बोध

आमर्श- विमर्श

आरप्स्यते- आरम्भ कर देंगे, 'आ+√रभ्+लृट् (झि)।

इन्द्रिय- ५ ज्ञानेन्द्रियाँ एवं ५ कर्मेन्द्रियाँ

५ ज्ञानेन्द्रियाँ है- घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र।

५ कमेन्द्रियाँ हैं- वाक्, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ

इन्द्रियप्रमाता- ऐसा प्रमाता जिसे इन्द्रिय में अहंभाव हो, इन्द्रिय को आत्मा मानने वाला व्यक्ति।

इष्यते- चाहा जाता है, '√इष्, लट् (तिप्), कर्मणिप्रयोग।

देखें **'वादिना इष्यते'** (विभागसंख्या ५)

उदय- उत्पत्ति, प्रकाशन

उदित- प्रकाशित, उत्पन्न

उद्धुर- दृढ

उद्धुरीकरण- मजबूत करना, दृढीकरण

उपादान- समवायिकारण, उपादानकारण

उपादानकारण- समवायिकारण

एषणीय- जो चाहने योग्य हो, स्पृहणीय, '√इष्+अनीयर्'।

कञ्चुक- पुरुष के ६ कञ्चुक है- माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति। माया के ५ कञ्चुक ये कहे गये हैं- कला, विद्या, राग, काल, नियति

कपाल- घट के अवयव विशेष जिनके संयोग होते ही घट की उत्पत्ति हो जाती है।

करण- (१) साधक (२) करणवर्ग- **'करणानां श्रोत्रादीनां बाह्यानां, मनः प्रभृतीनाम् आभ्यन्तराणाम् इन्द्रियाणं वर्गः त्रयोदशकरणसमूहः'** (स्पन्दनकरिकाविवृति- १/८, पृष्ठ ३४०

करणवर्ग- देखें 'करण' शब्द

कर्तृत्वशक्ति- (i) कुछ करने-रचने की शक्ति

(ii) प्रकाशनशक्ति जिससे विषयों का प्रकाशन होता है।

कर्तृत्वशक्तिमान्- सर्वशक्तिमान्

कर्मेन्द्रिय- वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये ५ हैं कमेन्द्रियाँ

कला- एक पराशक्ति है।

कलाभेद- **'श्रोत्रादिपञ्चकं वागादिपञ्चकं दशविधं बहिष्करणं बुद्ध्यहंकारमनांसि त्रिविधमन्तःकरणं मध्यमप्राणाश्च- इति कलायाः चिदात्मिकायाः शक्तेः चतुर्दशभेदाः'** (स्पन्दकारिकाविवृति- ४१८, पृष्ठ १४४)

कार्ममल- जन्मान्तर का कारणभूत चित्त में विद्यमान संस्कार जो कि ज्ञान-कर्मेन्द्रियों द्वारा कृतकर्म का परिणाम होता है।

कुड्य- दीवार

कुम्भ- घट

क्रिया- क्रियात्मिका शक्ति

क्षोभ- **क्षोभः प्रतिनियतशरीराद्यालम्बनाहंप्रत्ययात्मा मायीयः उपप्लवः'** (स्पन्दकारिकाविवृति- १/९, पृष्ठ ३९)

खिद्यते- खिन्न होता है, खिन्न हुआ जाता है।

गुरु- **'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः'** (तन्त्रालोक आ. १, पृष्ठ ८३)

ग्लानि- हर्षहानि

'ग्लानिः मान्द्यादिजनिता हर्षहानिः' (स्प० का. विवृति- ४/१०, पृष्ठ ११३)

ग्राम- समूह (यथा 'शब्दग्रामेण' विभागसंख्या २१)

घटयन्- बनाता हुआ, गढ़ता हुआ।

चमत्कार- प्रकाश, बोध, चेतना

चित्- शिव, चेतन, परेश

चिति- परेशशक्ति, परासंविद्, समष्टिसंविद्, स्वातन्त्र्य, चैतन्य।

'चेतयति इति चितिः'।

चिदात्मा- चैतन्यस्वरूप आत्मा, परेश

चेतन- असङ्कुचित प्रमाता

चेत्य- चेतनद्वारा ग्राह्य अर्थ

चैतन्य- (i) यद्यपि चैतन्य धर्मवाची (चेतन का धर्म) है तथापि चैतन्य (विमर्श) प्रधान है और प्राधान्येन व्यपदेश होता है अतः धर्मी को धर्म कहा गया है। यह बात योगदर्शन में स्पष्ट देखी जाती है और आत्मा को तो चेतन न्याय भी मानता है। शिवसूत्रों में भी कहा गया है **'चैतन्यमात्मा** (१/१)। योगसूत्र **'.....तद्दृशेः कैवल्यम्'** (योगसूत्र- २/२०) में धर्मी को धर्म कहा गया है (देखें विमर्शिनी- १/५/१२)

(ii) **'इह न किञ्चिदप्यचेतितं भवति इति चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति। चेतयति इति चेतनः पूर्णज्ञानक्रियावान्, तस्य भावः चैतन्यं पूर्णज्ञानक्रियावत्त्वम्'** (तन्त्रालोकविवेक- आह्निक १/२८-३०)

जगत्- संसार

जाग्रत् (अवस्था)- **'तत्र जाग्रत् इति जागरावस्थैव शास्त्रेषु प्रसिद्धा, यस्यां श्रोत्रादिभिः इन्द्रियैः शब्दादीन् इन्द्रियार्थान् गृहणन् प्रसृतशक्तिः पुरुषः परिस्पन्दते'** (स्पन्दकारिकाविवृति- १/३, पृष्ठ २०)

ज्ञातृत्वशक्ति- ज्ञाता की शक्ति। ज्ञातृत्वशक्ति के ३ प्रभेद हैं- (१) ज्ञान (सर्वज्ञत्व) (२) स्मृति (३) अपोहन

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च' (गीता- १५/१५)

ज्ञानेन्द्रिय- घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये ५ हैं ज्ञानेन्द्रियाँ।

झटिति- तुरन्त

तत्त्व- प्रत्यभिज्ञादर्शन में मान्य तत्त्व ३६ हैं- शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश।

तत्त्व- (प्राधान्य सहित)। निम्नलिखित ५ तत्त्वों में प्राधान्य-

	तत्त्व	में	प्राधान्य
१	शिव	में	'चित्' का प्राधान्य
२	शक्ति	में	'आनन्द' का प्राधान्य
३	सदाशिव	में	'इच्छा' का प्राधान्य
४	ईश्वर	में	'ज्ञान' का प्राधान्य
५	सद्विद्या	में	'क्रिया' का प्राधान्य

तित्यक्षा- त्याग करने की इच्छा, त्यागने की इच्छा।

तुला- तराजू

त्रिक- तीन तन्त्रों पर आधृत दर्शन। ये तीन तन्त्र हैं-

(१) सिद्धान्ततन्त्र (२) यामल तन्त्र (३) मालिनीतन्त्र

त्रिक के ३ रूप हैं-

(i) परत्रिक- शिव, शक्ति, शिवशक्तिसंघट्ट

(ii) अपरत्रिक- शिव, शक्ति, वर

(iii) परापरत्रिक- 'परा, परापरा, अपरा' ये तीन अधिष्ठात्री देवियाँ

त्रुट्यति- टूटती है, खण्डित होती है। टूटता है, खण्डित होता है, समाप्त होता (होती) है। '√त्रुट् (छेदने, टूटना, कटना, हानि होना, कतरना, तोड़ना।, सकर्मक परस्मैपदं, लट् (तिप्)

दीक्षा- 'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।'

(तन्त्रालोक आ. १, पृष्ठ ८०)

दुःख- **'कल्पिता क्रिया दुःखं, रजोहि प्रकाशाप्रकाशचाञ्चल्यरूपं दुःखमुच्यते'** (विमर्शिनी- ४/१/३,पृष्ठ २५३)

दृशि- दर्शन, ज्ञान

दृष्ट- देखा हुआ, प्रत्यक्ष

देव- परमेश्वर

देह- शरीर

देहप्रमाता- जिसको देह में अहंभाव हो ऐसे व्यक्ति को 'देहप्रमाता' कहेंगे।

द्रव्य- **'यद्विश्रान्तः पदार्थवर्गः सर्वो भाति च अर्थ्यते च अर्थक्रियायै'** (विमर्शिनी- १/५/१२)

द्वादशतत्त्व- **'शिवादिविद्यान्तानि पञ्च, माया, कालादिपञ्चकं, पशुतत्त्वं च'** (स्पन्दकारिकावृत्ति- ४/१६, पृष्ठ १३९)

द्वैतशैवदर्शन- द्वैतशैवदर्शन के आधारभूत प्रमाणभूत शैवगमों की संख्या १० है।

द्वैताद्वैतशैवदर्शन- इस दर्शन के आधार हैं १८ शैवागम

धर्मी- धर्मवान्, धर्मवाला

धावन- 'तेज़ दौड़ना, देखें विभागसंख्या २२ की 'व्याख्या' में।

नाद- **'नादो वेगवन्नद्योघनिर्घोषघनोपक्रमः क्रमसूक्ष्मीभावाभिव्यज्यमान-मधुमत्तमधुकरध्वनितानुकारी स्वोच्चरितो ध्वनिविशेषो, यं व्योमतत्त्वाभ्यासिनः शृणवन्ति'** (स्पन्दकारिकाविवृति- ४/१२, पृष्ठ ११८

नियन्त्रित- सीमित

निरंश- अंशहीन

निरुपादन- उपादानरहित, उपादानशून्य

निरूढि- विश्रान्ति

निरूप्यते- निरूपण किया जा रहा है।

निर्णेय- निर्णय करने योग्य

निर्माण- कृति, रचना

निर्माता- कर्ता, रचयिता

निर्मिमाण- निर्माण करता हुआ

निर्विकल्प- निर्विकल्पक

निर्विकल्पक- निर्विकल्प, विकल्पहीन, विकल्पशून्य

नील- नीला, काला

पञ्चकृत्य- सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय, अनुग्रह। जीव के सभी कृत्य सदैव चलते रहते हैं।

पञ्चमुख- महेश्वर। इनके ५ मुख हैं- ईश, तत्पुरुष, सद्योजात, वाम, अघोर। 'ईश, तत्पुरुष, सद्योजात, इन तीन से द्वैतशैवागम, 'वाम, अघोर' इन दो से 'द्वैताद्वैतशैवागम, 'शक्ति, शिव' के ऐक्य से अद्वैतशैवागम का उद्भव स्वीकार किया जाता है। 'पञ्चमुख' को 'पञ्चवक्त्र' भी कहते हैं।

पञ्चवक्त्र- देखें 'पञ्चमुख' शब्द

पतिप्रमाता- परमशिव, परप्रमाता, पूर्णप्रमाता, जब प्रमाता सभी भावों में स्वाङ्गरूप में अहं विमर्शयुक्त होता है 'प्रतिप्रमाता कहा जाता है- **'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।'** (विमर्शिनी- ३/२/३)

परप्रमाता- प्रतिप्रमाता, पूर्णप्रमाता, परमशिव

परमशिव- परेश, परमार्थतत्त्व।

परमार्थतः- तत्त्वतः

परमेश्वर- परेश, परमशिव

परा- परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन ४ वाक्प्रभेदों में प्रथम- **'पूर्णत्वात् परा'** (देखें 'विमर्शिनी विभागसंख्या १२)

'परावस्था' में केवल आत्मा का स्वभाव प्रकाशित होता है- अपने स्वभाव का बोध होता है- **'परावस्थायां पुनः पूर्णोऽहमित्येव स्वस्वभावः प्रकाशते'**

('शिवदृष्टि' की उत्पलवृत्ति- १/४, पृष्ठ ६०)

यहाँ इच्छा, ज्ञान, क्रिया ये तीनों एक रूप हैं तथा क्रम भी नहीं है। यहाँ किसी प्रकार का विभाग नही है- **'सैव निर्विभागता परावस्था'** (उत्पलवृत्ति, शिवदृष्टि- १/४, पृष्ठ ७)

परामर्श- अनुभव, बोध, स्मरण करना, इच्छा

परामर्शन्- परा+√मृश्+ल्युट्' परामर्श करना, (स्व का) अनुभव करना

पराम्रष्टुम्- परा+√मृश्+तुमुन्', परामर्श (अहंबोध) करने के लिये, परामर्श (अहंबोध) करने में।

परावाक्- देखें 'परा' शब्द

परावस्था- देखें 'परा' शब्द

परेश- परमशिव

पर्येषण- अन्वेषण, खोज

पशुप्रमाता- प्रमाता का एक प्रभेद, बैखरी स्तरका मनुष्य,

पश्यन्ती- वाच्यवाचकाभिन्नत्वदशा, वाक्शक्ति की सर्गोन्मुखता, परमशिव का विश्वेक्षण

'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।।'

(स्पन्दकारिकाविवृति में उद्धृत, पृष्ठ १४९)

पारतन्त्र्य- परवशता, अन्यमुखप्रेक्षित्व, स्वातन्त्र्याभाव।

पार्यन्तिक- समीप का, पड़ोसी, समीपस्थ।

'पार्यन्तिकमेव- पर्यन्ते भवमेव न त्ववान्तरम्' (भास्करी, पृष्ठ २७८)। पार्यन्तिक है 'पर्यन्त में होने वाला'। 'अन्त' शब्द के अर्थ के अनुसार 'पार्यन्तिक' के भी 'वेदान्त' शब्द के समान अनेक अर्थ हो सकेंगे। पार्यन्तिक के कई अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं-

(१) समीपवर्ती- जो पास में हो- निकट हो, सव्यवधान न हो, ऐसा विश्रामस्थान है 'अहंरूप' क्योंकि अहंभाव अपने से दूर नहीं होता, समीप ही होता है।

(२) जो अन्त तक रहता है अर्थात् जो अन्त तक चला आता रहा है- जिसमें सातत्य है अर्थात् सातत्य से युक्त। अहंबोध सतत होता आया है और होता रहता है।

(३) जो सबसे अधिक उत्कृष्ट (अन्त) हो ऐसा 'अहंभाव' ही होता है। डॉ. के.सी. पाण्डेय ने इसे ('पार्यन्तिक' को) अनूदित करते हुये 'Culminating point' कहा है (Dr. K.C. Pandey, Bhaskari Volume III, Page 79)

पुरुष- शरीरी- 'पुरि शेते इति पुरुषः'

पुर्यष्टक- सूक्ष्मशरीर, 'पञ्चतन्मात्रायें+बुद्धि+अहंकार+मन' इनका अष्टक है 'पुर्यष्टक'। अभिप्राय यह हैकि 'मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें' इनका समुदाय 'पर्युष्टक' है। अशरीरावस्था में जीव इसी पुर्युष्टक ('सूक्ष्मशरीर' अपरनामधेय) में रहता है।

'पुर्यां सूक्ष्मशरीरे तन्मात्रपञ्चकं गुणत्रयम्- इति स्थूलशरीरकारणभूतमष्टकम् यत् सन्निविष्टं तन्मुखं पुर्यष्टम्, तत्कार्यत्वात् स्थूलमपि शरीरं तच्छब्देन इह पुर्यष्टकम्- इत्युच्यते' (स्पन्दकारिकाविवृति- ४२०, पृष्ठ १५५-५६)

पृथु- बड़ा, चौड़ा।

पृथूदर- बड़े पेट वाला (पृथु+उदर)

पृथुबुध्नोदर- जिसके पेट का निचलाभाग विस्तृत हो।

प्रकाश- (i) वह आधार जो प्रतिबिम्ब ग्रहण करे, जैसे- दर्पण, मणि, रत्न। (ii) जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता हो ऐसा चैतन्य

प्रकृत- आरब्ध, आरम्भ किया गया हो, प्रासङ्गिक, प्रस्तुत

प्रकृति- प्रकृति प्रतिपुरुष भिन्न होती है

प्रख्य- सदृश, प्रत्यक्ष, स्पष्ट

प्रच्युत्य- गिरकर, दूर होकर, हटकर

प्रतिष्ठा- विश्राम, स्थिरता, आधार।

प्रतिष्ठितस्पन्द- देखें 'सामान्यस्पन्द'।

प्रत्यभिज्ञा- पहचान,

प्रत्यभिज्ञोपाय- अनुपाय

प्रत्यभिज्ञासूत्र- प्रत्यभिज्ञाकारिका

प्रत्यवमर्श- विमर्श, आमर्श, अनुचिन्तन, बोध, चिन्तन। 'अहं' का अहंरूप से अनुचिन्तन।

प्रमाता- कर्ता, ज्ञाता, जीव, चेतन। शिव का चेतन (चैतन्य) अंश। प्रमाता के अनेक प्रभेद होते हैं, यथा- परप्रमाता, बुद्धिप्रमाता, इन्द्रियप्रमाता, देहप्रमाता आदि।

प्रमात्रन्तर- 'प्रमातृ+अन्तर (दूसरा) = दूसरा प्रमाता, भिन्न प्रमाता, अन्य व्यक्ति, अन्य जीव।

प्रलयकेवली- माया तत्त्व में स्थित शून्य प्रमाता

प्रलयाकल- शून्यप्रमाता, मात्रशून्य का अनुभव करने वाला, माया तत्त्व में स्थित शून्य का प्रमाता

प्रवृत्ति (जगत् की सृष्टिप्रवृत्ति)- **'प्रवृतिः जिघृक्षितार्थोन्मुखतासमुन्मिषदवस्था'**

(स्पन्दकारिकाविवृति- १/६, पृष्ठ ३४)

बहिष्करण- बाह्यकारण, ५ ज्ञानेन्द्रियॉं एवं ५ कर्मेन्द्रियाँ ये १० हैं बहिष्करण।

बहीरूपतया- यह 'बहीरूपता' प्रातिपदिक के तृतीया एकवचन का रूप है। बहीरूपता = बहिर् + रूपता

यहाँ सूत्र **'रोरि'** (अष्टाध्यायी- ८/३/१४) से 'बहि+रूपता' रूप होने पर सूत्र **'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'** (अष्टाध्यायी- ६/३/११) से 'बही+रूपता' = **'बहीरूपता'** रूप बनता है।

बाह्यता- **'....अहमित्युचिते परामर्शे योऽयमिदन्तापरामर्शः सैव बाह्यता'**

(विमर्शिनी- १/५/१०, पृष्ठ १९२-९३)

बुद्धिप्रमाता- बुद्धि को ही आत्मा समझने वाला प्रमाता

बुध्न- वर्तन की तली, निचलाभाग, सबसे नीचा भाग

बुध्नोदर- निचला उदर, उदर की नीचे का भाग

भवन- होना

भासन- प्रकाश

भित्ति- (i) दीवार, भीत (ii) आश्रय (विभागसंख्या १०)

भोग- **'भोगश्च नाम तस्य यौ कल्पितौ क्रियानन्दौ'**

(विमर्शिनी- ४/३/१, पृष्ठ २५३)

'भोगं मायावभासितानादिनिजकर्मोपचितवासनानुगुणसुखादिसंवेदनात्मकतया पर्यवसितं स्वविषयमात्रम्'

(स्पन्दकारिकावृत्ति- ४/२०, पृष्ठ १५६)

देह होने पर ही भोग होता है- 'देहबन्धे हि सति भोगनिर्वृत्तिरुपपद्यते' (स्पन्दकारिकावृत्ति- ४/२०, पृष्ठ १५६)

मकुर- **दर्पण, मुकुर**

मद- विकारविशेष- **'मदः पानातिशयजः चित्तेन्द्रियवृत्तिप्रमोषरूपो विकारः।'** (विवृति- स्पन्दकारिका- १/३, पृष्ठ २०)

मध्यमा- वाक्प्रभेदविशेष-

'केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमावाक् प्रवर्तते।।'

(देखे स्पन्दकारिकाविवृत्ति, पृष्ठ १५०)

मन्त्र- विज्ञानाकल के ऊपर, विद्याप्रमाता

मन्त्रमहेश्वर- मन्त्र से उच्च, शिवतत्त्व का साक्षात्कार कर चुका प्रमाता विशेष

मल- 'आणव, मायीय, कार्म' ये तीन मल हैं।

महाभूत- ५ हैं- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश

महेश्वर- शक्तिमान्,

स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः।

विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः।।'

(प्रत्यभिज्ञाकारिका- ४/१/१)

महेश्वरशक्ति- चिति, पराशक्ति, परावाक्

मायीयमल- माया के कारण वेद्य पदार्थों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

मुकुर- दर्पण, मकुर

मूढ- अज्ञानी

मूर्छा- अवस्थाविशेष **'मूर्छा विषादविषादिभोजनादिजनितमोहात्मा'** (विवृति, स्पन्दकारिका- १/३, पृष्ठ २०)

मोक्ष- **'मोक्षो हि नाम नान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्'** (तन्त्रालोक)

योगिसंविद्- योगिचैतन्य, योगी का चैतन्य

वक्ष्यते- कहा जायेगा। 'वच' धातु का अर्थ है 'कहना' (**परिभाषणे**)। 'वच' धातु से लट् (तिप्) कर्मवाच्य में **'वक्ष्यते'** रूप बनता है। **'इति वक्ष्यते'** = ऐसा कहा जायेगा।

वर्णयिष्यते- कथयिष्यते

वाक्- **'वक्ति इति च वाक्'**, विभागसंख्या १२ देखें

वाट- मार्ग

विज्ञानाकल- उच्चसाधक, माया से ऊपर, किन्तु शुद्ध विद्या के नीचे। इसमें 'आणव' मल रहता है।

विद्याप्रमाता- मन्त्र

विमर्श- परामर्श- 'विमर्श एव परामर्श एव' (भास्करी पृष्ठ २४५)

स्वातन्त्र्य (अहंबोध में स्वातन्त्र्य), प्रत्यवमर्श विमर्श के कतिपय पर्याय हैं- पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार हृदय, स्पन्द। देखें विभाग-संख्या १२

स्वयं का ज्ञान किसी भी स्थिति में 'विमर्श' है। जैसे 'हम खाते हैं, दौड़ते हैं, दु:खी हैं सुखी हैं, बैठे हैं, दे रहे हैं, ले रहे हैं, गये थे, देंगे इत्यादि प्रत्येक परिस्थिति में 'स्वयं का ज्ञान' विमर्श है। तज्ज्ञानवान् भी 'विमर्श' है। सभी ज्ञानों में विमर्श

(अहंबोध) समान रूप से रहता है।

वियोजन- पृथक् करना

विविक्त- पृथक् किया हुआ

विशेषस्पन्द- 'विशेषस्पन्द' को 'अप्रतिष्ठित स्पन्द' कहते हैं। यह सांसारिक (मायिक) स्पन्द है, देहादि में आत्माभिमान को उत्पन्न करता है। विशेष स्पन्द जननमरणरूप संसार का कारण है, अत: हेय है। देखें विभागसंख्या १३,

'तथैते अत्यन्तहेया विशेषस्पन्दा अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्नमायीयप्रमातृविषयाः- सुखितोऽहं दुःखितोऽहम् इत्यादयो गुणमयाः प्रत्ययप्रवाहाः संसारहेतवः' (स्पन्दकारिकाविवृति- २/५, पृष्ठ ६४)

विश्रान्त- रुका, विरत, समाप्त, अन्तर्गत

वेदक- ज्ञाता, कर्ता

वेद्य- अनुभव का विषय, ज्ञेय, प्रमेय

वैखरी- **'स्थानेष्वभिहते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।**

वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना।।'

(देखें स्पन्दकारिकाविवृति- ४/१८, पृष्ठ १५१)

वैतत्य- फैला हुआ होना, फैलाव

शक्ति- **'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।**

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः।।'

(देखें स्पन्दकारिकाविवृत्ति- १/१, पृष्ठ ९)

शिव स्वकीय हृदय में (सूक्ष्मरूप में, ऐक्येन) वर्तमान (एकीभूत) अर्थ को बाह्यत्वेन सम्पादित करने के लिये जब उन्मुख होता है तब शक्ति कहलाता है-

'यदा स्वहृदयवर्तिनमर्थतत्त्वं बहिः

कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।'

(महार्थमञ्जरी, पृष्ठ ४०)

शक्तिपञ्चक- (१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा (४) ज्ञान (५) क्रिया। क्रमश: इनके तत्त्व हैं- (१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर (५) विद्या

'चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः।

शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम्।।'

शिवशक्तिसदाशिवतामीश्वरविद्यामयी च तत्त्वदशाम्।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति।।'

(तन्त्रालोक Vol, VI, पृष्ठ ४९)

शक्तिमान्- महेश्वर

शब्द- वाक्, देखें विभागसंख्या १२

शब्दग्रामेण- शब्दसमूहेन

शब्दप्रमातृसम्बन्ध-

शब्दरूप	प्रमातृनाम
(१) परावाक्	परप्रमाता (पतिप्रमाता, पूर्णप्रमाता)
(२) पश्यन्ती	शून्यप्रमाता
(३) मध्यमा	बुद्धिप्रमाता
(४) वैखरी	पशुप्रमाता

शिवतत्त्व- परमशिव का आद्यस्पन्दन

शिवप्रमाता- मन्त्रमहेश्वर से उच्च प्रमाता

शून्यप्रमाता- प्रलयाकल

शैवदर्शन- (i) शैवदर्शनों की संख्या ८ है-

(१) पाशुपत द्वैत

(२) सिद्धान्तशैव द्वैत

(३) द्वैताद्वैतशैवदर्शन (लकुलीश पाशुपत का)

(४) विशिष्टाद्वैत शैव

(५) विशिष्टाद्वैत शैव (वीर शैव)

(६) नन्दिकेश्वर शैव

(७) रसेश्वर शैव

(८) अद्वैतशैव (कश्मीर का)

(ii) तन्त्रालोक के अनुसार शैवदर्शनों कीसंख्या केवल ३ है-

(१) द्वैत शैव

(२) अद्वैत शैव

(३) द्वैताद्वैत शैव

षट्कञ्चुक- माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति

ष्यञ्- प्रत्ययविशेष

संयोजन- मिलाना, जोड़ना, मिलाने (जोड़ने) की क्रिया

संवर्तित- घुमाई गई, देखें विभागसंख्या २२

संविद्- चेतना, परमचेतना

संवित्ति- सम्यक् ज्ञान

संवेदन- अनुभव, प्रतीति

संहार- 'संहृतिः कृतकृत्यत्वात् बाह्यार्थपरित्यागे स्वव्यापारोपरमः प्रत्यस्तमयावस्था' (स्पन्दकारिका विवृति १/६, पृष्ठ ३४)

सकल- सामान्य जीव। इसमें 'आणव', 'मायीय' एवं 'कार्म' तीनों मल रहते हैं।

सङ्कथा- कथा, बात, कथन, उक्ति

सङ्कल्प- इच्छा, औन्मुख्येच्छा, कुछ करने के लिये उन्मुख होने की इच्छा

सत्- विद्यमान

सन्निवेश- रचना

समर्पक- देने वाला, आकार आदि देने वाला, सम्पादक।

'बाह्यसमर्पकाः बाह्यनीलादिसंपादकाः' (भास्करी, पृष्ठ २२६)

सम्भावनानुमान- तर्करूप अनुमान

सांशयिक- संशयग्रस्त, संशयापन्न

सामान्यस्पन्द- 'प्रतिष्ठितस्पन्द'। इस स्पन्द के प्रभेद नहीं होते जबकि 'विशेषस्पन्द' के प्रभेद होते हैं। सामान्यस्पन्द ग्राह्य होता है जबकि 'विशेषस्पन्द' हेय। देखें विभागसंख्या १३, २२।

'अयमहमस्मि, अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते- इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पन्दः'

(स्पन्दकारिकावृत्ति- २/५, पृष्ठ ६४)

सुख- 'प्रकाशरूपं च सत्त्वं सुखम्' (विमर्शिनी- ४/१/३, पृष्ठ २५३)

सुषुप्ति- सुषुप्तावस्था। **'सुषुप्तं गाढनिद्रारूपा सुखस्वापास्था, मनोव्यापारस्यापि व्युपरमे सति यत्र व्यतिरिक्तवेद्यसंवेदनं तात्कालिकं नास्ति'**

(स्पन्दकारिकाविवृति- १/३, पृष्ठ २०)

सूत्र- 'सूत्र' का अर्थ 'कारिका' भी है। देखें विभासंख्या ४, ५

सौत्रान्तिक- बौद्धों का एक सम्प्रदाय। सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमानवादी होते हैं।

स्थानकरण- देखें विभागसंख्या २२

स्थिति- 'स्थितिः गृहीतार्थविश्रान्त्यवस्था'

(स्पन्दाकारिकाविवृति- १/६, पृष्ठ ३४)

स्पन्द- विमर्श, स्वातन्त्र्य, किञ्चिच्चलन। स्पन्द के २ प्रभेद होते हैं 'सामान्यस्पन्द' एवं 'विशेषस्पन्द'। सामान्यस्पन्द का ही नाम है 'प्रतिष्ठितस्पन्द'। यह स्पन्द (सामान्य) उपादेय है। यह स्पन्द सदैव रहता है, माया की स्थिति में भी किन्तु मायिक प्रभाव के कारण उसका भान सरलतया नहीं हो पाता है। 'धावन' आदि की स्थिति में जब व्यक्ति स्वयं अकिञ्चित्कर हो जाता है तब स्वाभाविक सामान्य स्पन्द की झलक मिल सकती है। देखिये विभाग संख्या २२।

विशेषस्पन्द हेय होता है। देखिये- 'विशेषस्पन्द' शब्द एवं विभागसंख्या १३ एवं २२

स्पृश्यते- 'स्पृश्' धातु से कर्मणि लट्, तिप्। छुआ जाता है, स्पर्श किया जाता है, सम्बन्ध होता है आदि।

स्फुट- 'स्वानुभवसंवेद्यत्वात् सुप्रकटम्
(स्पन्दकारिका- विवृति- १/४, पृष्ठ २६)

स्मरण- स्मृति। देखें 'स्मृति' शब्द।

स्मृति- स्मरण, अवस्था विशेष, **'अनुभूतविषयासंप्रमोषात्मिका स्वप्नसदृशी मनसैव विषयग्रहणसाम्यात्'** (स्पन्दकारिकाविवृति- १/३, पृष्ठ २०)

स्वकर्तृत्वशक्ति- सर्वशक्ति

स्वप्न- अवस्था विशेष' **'स्वप्नः स्वापावस्था, यस्यां स्वव्यापारपरिश्रान्तः श्रोत्रादिविहारविरतावपि मनसैव असौ विषयान् परिगृह्णाति।'**

(स्पन्दकारिकाविवृति- १/३, पृष्ठ २०)

स्वातन्त्र्यशक्ति- यह स्वातन्त्र्यशक्ति जैसे परमेश में रहती है वैसे जीव में भी। परमशिव जगत् की उत्पत्ति (प्रकाशन) में किसी की अपेक्षा नहीं रखता ('स्वतन्त्रः कर्ता'- अष्टाध्यायी- १/४/५४)। उसमें निहित-एकात्मभाव से पूर्व अवस्थित- जगत् का प्रकाशन वह स्वातन्त्र्यशक्ति से करता है- **'स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय-२)। क्रम है स्वातन्त्र्यशक्ति प्रेरक है 'इच्छा' की, इच्छा से 'ज्ञान' एवं ज्ञान से 'क्रिया'। इससे स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्यशक्ति को किसी की अपेक्षा नहीं- उस (स्वातन्त्र्य) में अन्यमुखप्रेक्षित्व नहीं, अनन्यमुखप्रेक्षित्व है। जब कि अन्य धर्म इतर की अपेक्षा करते हैं। जीव में सुप्त संस्कार स्वातन्त्र्यशक्ति से अङ्कुरित (उद्बद्ध) होते हैं। अङ्कुरित वे संस्कार आत्मा से अभिन्न रहते हैं।

परिशेषिका - ४

उपयुक्तग्रन्थसूची

अमरकोश- चौखम्बासंस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी- १

(हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला ३०)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (२ भागों में)

(i) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा- उत्पलदेवविरचिता- विमर्शन्याख्यटीकोपेता, संशोधक:- पण्डित मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावलि:- ग्रन्थाङ्क २२ (प्रथमोभाग: संवत् १९७५, खैस्ताब्द १९१८)

(ii) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा- काश्मीर-संस्कृतग्रन्थावलि:, ग्रन्थाङ्क ३३ (द्वितीयो भाग:, संवत् १९७८, खैस्ताब्द १९२१)

'उद्योतकर का न्यायवार्तिक: एक अध्ययन'

डा० दयाशङ्कर शास्त्री (भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर, प्रथम संस्करण, १९७४)

टिप्पणी (-पादटिप्पणी)- 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' संख्या (i) के प्रथम अध्याय में ५वें आह्निक की टिप्पणियाँ प्राय: ली गई हैं।

तात्पर्यटीका (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका- चौखम्बा प्रकाशन, काशी, सन् १९२५

दशरूपक (सावलोक)

न्यायभाष्य- (न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्यसहित) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, तृतीय संस्करण, विक्रम संवत् २०३९

न्यायवार्तिक- सङ्कलनकर्ता पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, सन् १९१६

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका- देखें 'तात्पर्यटीका'।

न्यायबिन्दुटीका (धर्मोत्तरकृता)- व्याख्याकार- डा० श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य-भण्डार मेरठ, प्रथम संस्करण- १९७५ ई.

पराप्रावेशिका- (क्षेमराजकृत), काश्मीरग्रन्थावलि:, ग्रन्थाङ्क १५, संवत् १९१५,

ख्रेस्ताब्द १९१८

पादटिप्पणी- देखें 'टिप्पणी'

प्रत्यभिज्ञाकारिका- देखें 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका'

प्रत्यभिज्ञाहृदय –

(i) व्याख्याकार : डॉ० जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, १९७३, प्रथम संस्करण

(ii) हिन्दी प्रत्यभिज्ञाहृदय : व्याख्याकार डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१, संवत् २०२७

प्रशस्तपादभाष्य- व्याख्याकार : आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१

भावप्रदीय- सूर्यनारायणकृत भावप्रदीप व्याख्या' 'वाक्यपदीयम्' की। वाक्यपदीयम्' (ब्रह्मकाण्ड) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, १९९० ईसवी, विक्रम संवत् २०४७

वाक्यपदीयम्- (ब्रह्मकाण्ड), चौखम्बा-संस्कृत-संस्थान, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, १९९० ईसवी, विक्रम संवत् २०४७

विमर्शिनी- देखें 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका'।

वितृति- (i) रामकण्ठाचार्यकृता 'विवृति' युक्ता स्पन्दकारिका) श्रीनगर, कश्मीर, संवत् १९६९, सन् १९१३

(ii) अभिनवगुप्तकृता 'विवृतिविमर्शिनी' अर्थात् 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तीन भागों में-

(क) प्रथम भाग- काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्कसंख्या ६०, संवत् १९९४, ख्रेस्ताब्द १९३८

(ख) द्वितीय भाग- काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्क ६२, संवत् १९९८, ख्रेस्ताब्दः १९४१

(ग) तृतीय भाग- काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावलिः ग्रन्थाङ्क ६५, संवत् २००० ख्रेस्ताब्द १९४३

शब्दकल्पद्रुम- (संस्कृतशब्दकोश)

शिवदृष्टि- सोमानन्दविरचित (उत्पलवृत्तिसहित) काश्मीरग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्क :- ५४, संवत् १९९१, ख्रैस्ताब्द १९३४

शिवसूत्र- (सविमर्श) व्याख्या– जानकीनाथकौलकृता मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण- १९८४

सांख्यकारिका (सुबोधिनीव्याख्यासंवलिता), व्याख्याकार- डा० दयाशङ्कर शास्त्री एवं डॉ० (श्रीमती) प्रेमा अवस्थी) साहित्यनिकेतन, कानपुर, संवत् २०२७

स्पन्दकारिका- (रामकण्ठाचार्यकृतविवेकयुता), श्रीनगर, काश्मीर, संवत् १९६९, सन् १९१३

Abhinavagupta : An Historical and Philosophical study- Professor Dr. Kanti Chandra Pandey, The choukhamba Sanskrit Series office Varanasi- 1, 1963.

A History of Indian Logic : M.M. Satis Chandra Vidyabhusana, Motilal Banarasidass, 1970

Bhaskari Vol III

(An Englhish translation of 'The **Is'varapratyabhijnñā** in the light of the **Bhāskari**)

with an outline of History of **Śaiva** Philosophy by Dr. Kanti Chandra Pandey, 1954.

Kashmir Śaivism : L.N. Shrma, Bhartiya vidya Prakashan, Varanasi, First Edition 1972

